साकल्य

[उद्योग-संस्कृति-साहित्य-सौन्दर्य्य का संयोजन]

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रकाशक :

ओम्प्रकाश बेरी,

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,

पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी,

बनारस ।

प्रथम संस्करण

सन् १९५५ ई०

मूल्य : चार रुपया

मुद्रक :

श्रीकृष्णचन्द्र बेरी,

विद्यामन्दिर प्रेस लि०,

डी० १५/२४, मानमन्दिर,

बनारस

कुमारी बरी डोरिया

बावुंग-सम्मेलन के पथ पर विध्वस्त

सिन्धुमग्न व्योमयान

'काश्मीर प्रिन्सेस'

की

स्वागतिका

कुमारी बेरी डोरिया

की

स्वर्गीय आत्मा को

स्नेहाञ्जलि

जिसने यात्रियों की प्राण-रक्षा के लिए

हँसते-हँसते अपने तरुण प्राणों को

उत्सर्ग कर दिया

दो शब्द

'साकल्य' में मेरे अब तक के मनन चिन्तन का सर्वस्व है। इसमें मैंने उद्योग-संस्कृति-साहित्य-सौन्दर्य्य का एकान्वय किया है। ये सजीव प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से अलग-अलग नहीं, बल्कि अर्थ-धर्म्म-काम-मोक्ष की तरह अन्योन्य हैं, पर्य्याय हैं। सबके मूल में प्रकृति है, अतएव किसी भी सत्प्रवृत्ति को ग्रहण करना प्रकृति की ही मानवीय साधना करना है।

इस युग में शरीर और आत्मा, यथार्थ और आदर्श, स्थूल और सूक्ष्म, वस्तु और भाव को एक-दूसरे से विच्छिन्न करके देखा जाता है, इसीलिए समन्वय की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु यह विभाजन और समन्वय अस्वाभाविक है। हम रचनात्मक दृष्टि से देखें तो सभी प्रवृत्तियों में सहज स्वाभाविक एकता मिल जायगी, समन्वय के दुरूह प्रयास की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

मेरा ध्रुवविश्वास है कि वर्त्तमान अशान्ति और अव्यवस्था के बाद आनेवाला युग गान्धी का रचनात्मक युग होगा। 'साकल्य' में उसी युग (निसर्गतः युग-युग) का स्थापत्य और लालित्य है।

काशी,

२०—१०—५५

—लेखक

अनुक्रमणिका

साकल्य

युग का भविष्य

भूदान के लिए उत्तर प्रदेश की पैदल यात्रा करते हुए पृथ्वीपुत्र विनोबा भावे जब काशी पधारे थे तब विद्यापीठ में मैंने भी उनके दर्शन किये थे। उन्होंने साहित्यिकों से सम्मिलन के लिए एक दिन निश्चित किया था। विद्यापीठ के जिन अध्यापक महाशय को उन्होंने साहित्यिकों को आमन्त्रित करने के लिए सहेजा था, वे समाजवादी थे; विनोबा के कार्य्यक्रम से उदासीन थे। फलतः उस दिन केवल मैं ही एक साहित्यिक श्रमजीवी की हैसियत से उनके प्रवचन में उपस्थित हो सका।

जीवन की प्रारम्भिक प्रेरणाएँ मुझे अपने बचपन में ग्रामीण वातावरण से मिली हैं। अतएव, स्वभावतः गान्धी जी के रचनात्मक कार्य्यों और विनोबा के भूदान-आन्दोलन के प्रति मैं निष्ठावान हूँ। सन् १६२० से ही सार्वजनिक जागृति का अनुयायी हूँ। तबसे अब तक इतिहास कहाँ-से-कहाँ चला गया है। किन्तु आज भी मेरा दृष्टिकोण अपरिवर्त्तित है। सन् १६२० में गान्धी जी जिस ग्रामीण चेतना को लेकर चले मैं उसी चेतना का खद्योत हूँ। गान्धी जी के बाद उनके रचनात्मक कार्य्यों के उत्तराधिकारी विनोबा जी हैं, अतएव, उनके पदचिह्नों में भी मैं अपना पथ खोजता हूँ।

इस समय दूसरे महायुद्ध के बाद सारा संसार उसके दुष्परिणामों को भोग रहा है। मर्म्माहत होकर भी वह कोई नवीन पाठ नहीं सीख रहा है, तीसरे महायुद्ध की ओर अग्रसर होना चाहता है। पंडे-पुरोहित जिस तरह जनता को अपने स्वार्थ के लिए भुलाये रखना चाहते हैं, कर्त्तव्य की ठीक दिशा का बोध नहीं होने देते; उसी तरह राजनीतिक नेता भी अपने आर्थिक आडम्बरों से लोक-छलना कर रहे हैं। ऐसे कुसमय में विनोबा जी भूदान का कार्य्य हाथ में लेकर जनता के स्वावलम्बन और स्वाभाविक जीवन-दर्शन को जगा रहे हैं।

मेरे मन में कई जिज्ञासाएँ हैं। मुख्य जिज्ञासा यह है कि मुद्रागत अर्थशास्त्र को बदले बिना मनुष्य अपने प्रयत्नों में स्वाभाविक पुरुषार्थी कैसे बन सकता है? अपनी 'ज्योतिविहग' नामक पुस्तक में मैंने लिखा है—"मनुष्य-मनुष्य के बीच में अविश्वास-सूचक माध्यम (मुद्रा) रख कर उससे किसी सजीव (सांस्कृतिक अथवा आन्तरिक) निर्म्माण की आशा नहीं की जा सकती।"

आज वातावरण में इनक़लाब के नारे लगाये जा रहे हैं। लेकिन जब तक किसी भी तन्त्र, यन्त्र, मन्त्र में मुद्रागत अर्थशास्त्र बना रहेगा तब तक कोई भी इनक़लाब नहीं हो सकता। जिस दिन मुद्रागत अर्थशास्त्र का स्थान किसी सजीव माध्यम* को मिल जायगा उस दिन बिना किसी नारे के अपने आप ही इनक़लाब हो

---

*गान्धी जी सूत का माध्यम चलाना चाहते थे।

जायगा, मनुष्य अपने स्वाभाविक जीवन-पथ पर चलने लगेगा। यदि आवाज बुलन्द करने से ही परिवर्त्तन हो सकता तो दूसरे महायुद्ध के हाहाकार से ही परिवर्त्तन हो गया होता।

गान्धी जी और विनोबा जी के प्रयत्नों का लक्ष्य गांवों के मुद्रा-रहित सजीव श्रमशास्त्र को पुनरुज्जीवित करना है। उनके प्रयत्नों के प्रति निःसंदिग्ध होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय विभीषिकाओं और यान्त्रिक कृत्रिमताओं के कारण अन्धकार में प्रकाश पाने की आशा से मैंने उस दिन विनोबा जी से प्रश्न किया था कि मुद्रा को आप किस तरह हटायेंगे? बिना इसको हटाये तो भूदान का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

बरेली में अपने एक प्रवचन में विनोबा जी ने प्रामिसरी नोटों की होली जला देने के लिए कहा था। भूदान में भी वे अर्थदान नहीं लेना चाहते थे। अतएव, मेरा प्रश्न अप्रासंगिक नहीं था। विद्यापीठ के प्रवचन में उन्होंने मेरे प्रश्न का क्या उत्तर दिया, मैं सुन नहीं सका। किन्तु दुभाषिया ने बतलाया कि विनोबा जी मुद्रा को 'मुद्राराक्षस' कहते हैं। वर्धा के रचनात्मक कार्य्यो में बिना मुद्रा के ग्रामोद्योगों का प्रयोग कर रहे हैं। वहाँ सफल होगा तो सारे देश में फैल जायगा।

प्रश्न एक देश का नहीं, सारे संसार का है। अब वह युग नहीं है कि शेष संसार से अलग दुनिया के एक कोने में हम अपना स्वतन्त्र और स्वावलम्बी प्रयोग कर सकें। इस समय यही कहा जा सकता है कि आगे-पीछे सारे संसार में वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हो

जायेंगी जो सभी देशों को ग्रामीण स्वावलम्बन के लिए बाध्य कर देंगी। संसार जिस रफ्तार से दौड़ रहा है उसका आखिरी परिणाम यही होगा, इसमें किसी भी दूरदर्शी को सन्देह नहीं हो सकता। भारत यदि तीसरे महायुद्ध की आग से बचा रहा तो विनोबा का प्रयास शेष संसार के लिए एक आदर्श दृष्टान्त बन जायगा।

वर्त्तमान कठिनाइयों में मैं सोचता हूँ, जीवन के स्वाभाविक प्रवाह की एक अपनी ही गति-विधि होती है। नदी नहर की तरह किसी बँधे-बँधाये मार्ग से नहीं चलती, वह अपना मार्ग और दिशा अपनी धारा से स्वयं बना लेती है। विघ्न-बाधाओं को देख कर ठिठकती नहीं, अपनी जीवनी शक्ति से आगे बढ़ जाती है। गान्धी और विनोबा का कार्य्य-स्रोत भी ऐसा ही अजस्र है।

विनोबा के काशी-प्रवास के अवसर पर मैंने उन्हें अपनी ही तरह दुबली-पतली एक पुस्तक भेंट की थी—'धरातल'। वह एक साहित्यकार का ग्रामीण चित्रपटल है।

मैं तो किसी निसर्ग-सुन्दर युग की सांस्कृतिक प्रजा हूँ। आज के युग में मेरी स्थिति उस आश्रम-मृग की-सी है जो प्रतिकूल वातावरण में आ पड़ा है। मेरा युग तो कहीं दिखाई नहीं देता, फिर भी जहाँ कृषि और प्रकृति अब भी स्मृतिशेष हैं वहीं मेरा मन चला जाता है। अपनी पुस्तक 'पथचिह्न' में मैंने लिखा है—
"जी चाहता है, फिर उन्हीं जनपदों की सेवा में निकल पड़ूँ जहाँ से आकर मैं नगरप्रवासी हो गया।"

मैं जिस पथ पर अग्रसर होना चाहता था, सन् '५१ से विनोवा भावे उसी पथ पर पैदल चल पड़े हैं। अपने भूदान-यज्ञ द्वारा वे इस कृत्रिम यन्त्र-युग में मनुष्य और प्रकृति के विच्छिन्न सम्बन्ध को फिर जोड़ रहे हैं।

प्रकृति का वरदान पाने के लिए मनुष्य को उससे एकप्राण होकर स्वाभाविक पुरुपार्थ करने की आवश्यकता है। विनोवा का भूदान-यज्ञ उसी पुरुषार्थ को पुनः प्रारम्भ करने के लिए भूमिका है। स्वाभाविक पुरुपार्थ (कृपि और शिल्प) से ही मनुष्य प्रकृति की तरह पल्लवित-प्रफुल्लित होगा। उसी से ऐहिक कुशल-क्षेम के साथ-साथ आत्मिक कल्याण भी होगा। जनक का अध्यात्म और कृष्ण का कला-लालित्य यही सङ्केत दे गया है। दोनों ही पृथ्वी की कृषि-साधना के साधक थे।

अपने नवीन निर्म्माण में स्वाभाविक पुरुपार्थ की यह विशेपता होगी कि वह पिछले युगों की शोपण-प्रणालियों से मुक्त हो जायगा। मध्ययुग की सत्ताएँ तो नामशेप हो ही गयी हैं, आधुनिक युग का पूँजीवाद भी बुझने के लिए ही तीव्र हो गया है। या तो तीसरे महायुद्ध से या विश्वव्यापी अकाल से यन्त्र-युग का भी अन्त होने जा रहा है। तथास्तु।

इस अभिशप्त युग में लोकजीवन के जागरूक प्रहरी और भविष्य के ज्योतिवाहक पथिकों को हार्दिक प्रणाम। मानवता के सौभाग्य से वे दीर्घजीवी हों।

काशी,
१९५४ ई०

संस्कृति का आधार

यातायात की सुविधा बढ़ जाने से दुनिया सिमटती जा रही है, इसी के साथ ही मनुष्य अपने बाहर-भीतर सङ्कीर्ण (स्वार्थ-सङ्कीर्ण) भी होता जा रहा है। कहा जाता है, भौगोलिक दूरी दूर हो जाने से दुनिया एक होती जा रही है; किन्तु इसी के साथ यह भी सत्य है कि अब पहिले की अपेक्षा एक-दूसरे के हितों पर आक्रमण करना आसान हो गया है।

जब यातायात की आज-जैसी सुविधा नहीं थी तब भी पृथ्वी एक थी, आकाश एक था। भौगोलिक दूरियों में बँटी रहने पर भी प्राकृतिक सृष्टि अखण्ड थी। किन्तु क्या बाहरी सृष्टि ही अखण्ड थी, मनुष्य भीतर से विभक्त था? ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी और आकाश में यदि नैसर्गिक एकता थी तो मनुष्य में आध्यात्मिक एकता थी। जिस युग में मनुष्य ने 'खल्विदं ब्रह्म' अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अनुभव किया था उस युग में वह देशों की सीमा ही नहीं, बल्कि अपने शरीर की भी सीमा पार कर विश्वात्मा हो गया था; उसकी चेतना का विस्तार अश्वत्थ और वट वृक्ष की शाखाओं की तरह दिग्दिगन्त को स्पर्श कर रहा था।...

कालान्तर में वह आध्यात्मिक एकता पीछे छूट गयी, अब यह वैज्ञानिक एकता का युग है। पिछले युगों में मनुष्य ने जिस प्रकृति

के साथ आध्यात्मिक तादात्म्य स्थापित किया था, अब उसी प्रकृति पर वैज्ञानिक आधिपत्य स्थापित कर लिया है। जो प्रकृति पहिले एक सजीव साधना थी, वह अब जड़ साधन मात्र रह गयी है। मनुष्य देही नहीं, देह हो गया है; देह की सुविधाओं को ही विज्ञान ने सुगम कर दिया है। जीवन पुरुषार्थ नहीं, उपभोग मात्र रह गया है। क्या इससे मनुष्य को सुख-शान्ति मिल गयी? कवि पूछता है—

चरमोन्नत जग में जब कि आज विज्ञान ज्ञान,
बहु भौतिक साधन, यन्त्र यान, वैभव महान,
सेवक हैं विद्युत् वाष्प शक्ति : धनबल नितान्त,
फिर क्यों जग में उत्पीड़न? जीवन क्यों अशान्त?

कवि स्वयं इसका उत्तर देता है—

मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय!

.. .. ..

है श्लाघ्य मनज का भौतिक सञ्चय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास?

विज्ञान के द्वारा मनुष्य का यान्त्रिक विकास हुआ है, हार्दिक विकास नहीं। उसमें क्रिया है, चेतना नहीं। असन-वसन-व्यसन से लेकर जीवन के यावत् कार्य्य यन्त्रवत् हो गये हैं। मनुष्य का न तो अपने ही जीवन से कोई जीवित सम्बन्ध है, न दूसरों के जीवन से। उसमें स्नेह नहीं है, सहयोग नहीं है, गार्हस्थ्य नहीं है, समाज नहीं है।

विज्ञान के द्वारा व्यक्ति विश्व नहीं बन सका। वह अपने में ही क्षुद्र हो गया है। उसे ठीक अर्थ में स्वार्थी भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो यन्त्रों की तरह जीवन्मृत है, उसमें न तो आत्म-चेतना ही हो सकती है और न लोक-चेतना; उससे न तो स्वार्थ ही सध सकता है, न परमार्थ। सच तो यह कि प्रत्येक मनुष्य जिन्दगी के नाम पर आत्महत्या कर रहा है, स्वयं मिट रहा है और जीवन-संघर्ष के नाम पर दूसरों को मिटा रहा है। यह कैसी छलना है, प्रवञ्चना है, विडम्बना है!

निःसन्देह विज्ञान ने मनुष्य की कार्य्यक्षमता और दक्षता बढ़ा दी है। किन्तु उसका कर्तृत्व कर्त्तव्य नहीं बन सका है—उसकी क्रियाशीलता में आन्तरिकता नहीं है, आस्था नहीं है, संवेदन-शीलता नहीं है, माता की-सी तन्मयता नहीं है। एक शब्द में मनुष्य कर्म्मशील नहीं, कार्य्यवाहक हो गया है।

इसीलिए उसकी कार्य्य-तत्परता बाहर से तो खूब चुस्त-दुरुस्त दिखाई देती है, किन्तु भीतर से दायित्व-शून्य हो गयी है। ऐसी कार्य्य-तत्परता का मूल्य मरणान्तक हो जाता है। अभी हाल में चीनी प्रतिनिधियों को लेकर बादुङ्ग सम्मेलन (इन्डोनेशिया) जाते समय भारतीय वायुयान जिस विस्फोटक दुर्घटना से ध्वस्त हो गया वह इसी निरर्थक कार्य्य-तत्परता का निष्फल दृष्टान्त है। कहा जाता है कि विरोधी दल के कार्य्यकर्त्ताओं ने उसके भीतर 'टाइम बम' रख दिया था। 'टाइम बम' तो मनुष्य की निर्म्मम मनोवृत्ति का एक प्रतीक है। क्या प्रत्येक व्यक्ति उसी की तरह हिंसक

(विध्वंसक) नहीं हो गया है! क्या वह समाज-विरोधी तत्त्वों का अग्निपुञ्ज नहीं बन गया है!!

राजनीतिक व्यक्तियों के राग-द्वेष और अहङ्कार का जो विस्फोट युद्धों में होता आया है, उसी का विषाक्त वातावरण जनसाधारण के दैनिक जीवन में भी छा गया है। दूसरे महायुद्ध के बाद चारों ओर अव्यवस्था, विशृङ्खलता, उच्छृङ्खलता और लोलुपता फैल गयी है। छात्रों की अनुशासन-हीनता से लेकर तरह-तरह के आन्दोलनों तक में एक ही अमर्ष-वृत्ति दुर्विनीत और दुर्दमनीय हो गयी है। अखबारों में आये दिन हड़ताल, उपद्रव, दुर्घटना, अनुशासन-हीनता, चोरी, डाका, हत्या, और पदाधिकारियों के प्रति असन्तोष के समाचार छपते रहते हैं। यह विश्वव्यापी अशान्ति ही क्या युग-क्रान्ति है? तब तो ट्रेन-दुर्घटना और हवाई दुर्घटना भी क्रान्ति कही जायगी!—(इधर ट्रेन-दुर्घटना और हवाई दुर्घटना बहुत होने लगी है)।

आज चारों ओर जो निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता फैली हुई है उसका कारण क्या है? मनुष्य की स्नायुओं को अतृप्त आकांक्षाओं ने अस्वाभाविक उत्तेजना से असन्तुलित कर दिया है। उसकी चेतना मूर्च्छित हो गयी है, क्रियाशीलता पथभ्रष्ट हो गयी है। मनुष्य की कुण्ठित प्रवृत्तियाँ शारीरिक उद्वेगों (काम, क्रोध मद, लोभ, घृणा, द्वेष, संघर्ष) में व्यक्त हो रही हैं।

आकांक्षाओं की अतृप्ति का कारण क्या आर्थिक वैषम्य है? आर्थिक वैषम्य तो मध्ययुग में भी था, उस युग में भी मनुष्य

अतृप्त था। किन्तु अतृप्ति ने चेतना को ग्रस नहीं लिया था; क्योंकि वह सर्वथा भौतिक नहीं, दार्शनिक भी थी। भौतिक अभावों में भी चेतना के सञ्चार के लिए जीवन का विस्तृत रचनात्मक क्षेत्र था, तभी तो उसका विकास संस्कृति और कला में हुआ।

मध्ययुग की अपेक्षा आधुनिक युग में विज्ञान ने भौतिक साधन अधिक उपलब्ध कर दिये हैं; फिर भी मनुष्य का, चेतना का, जीवन का विकास क्यों नहीं हो रहा है? कहा जा सकता है कि जैसे बढ़ती हुई आबादी के लिए पर्य्याप्त स्थान नहीं है, वैसे ही जीने के लिए साधन भी पर्य्याप्त नहीं हैं। अपनी देह की रक्षा करना ही मनुष्य के लिए कठिन हो गया है, फिर वह चेतना का विकास कैसे करे? तो क्या आबादी कम हो जाने और साधन बढ़ जाने से मनुष्य स्वस्थ अथवा आत्मस्थ हो जायगा?

जन-संख्या और साधन ही विचारणीय नहीं है। हमें जनता की जीवन-प्रणाली और औद्योगिक प्रणाली का भी ध्यान रखना है। जीवन और उद्योग, दोनों में कृत्रिमता आ गयी है। जीवन के अनुरूप ही साधन बनते हैं। जनता की जड़ता की तरह ही साधन भी जड़ हो गये हैं। या यों कहें, युग-युग के आर्थिक वैषम्य की क्षतिपूर्ति के लिए विज्ञान ने जो साधना-रहित साधन प्रस्तुत किये उनसे जीवन भी जड़ हो गया। सुख-दुख अपने स्वाभाविक मार्ग से औद्योगिक समाधान नहीं पा सका, उद्योग: कर्म्मयोग नहीं बन सका। वास्तविकता यह है कि सामन्तवाद और पूँजीवाद में यदि वर्ग-वैषम्य था तो वैज्ञानिक उद्योगवाद में मनुष्य और यन्त्र का

जीवन-वैषम्य उत्पन्न हो गया है। मध्ययुग में मनुष्य ही उपभोक्ता और उत्पादक था; अब सभी वर्गों का मनुष्य केवल उपभोक्ता रह गया है, उत्पादक यन्त्र हो गया है। जीवन का यह अस्वाभाविक विभाजन है। सभी देशों में वैज्ञानिक दृष्टि से कई-कई वर्षों की औद्योगिक योजनाएँ बनायी जाती हैं, किन्तु जीवन का सजीव रचनात्मक क्षेत्र (कर्म्म-क्षेत्र) न मिलने के कारण मनुष्य हतबुद्धि हो गया है, उसकी यही मानसिक मूर्च्छा बाहर शारीरिक आस्फालनों में आन्दोलित हो रही है। मनुष्य के मन में चेतना का जो गत्यवरोध हो गया है उसी का दुष्प्रभाव जीवन और साहित्य में पड़ रहा है।

गत्यवरोध हो जाने से छोटे दायरे में जो मुठभेड़ होने लगती है वही बड़े दायरे में युद्ध कहलाने लगती है। इस शताब्दी के दूसरे महायुद्ध के बाद अब वायुमण्डल में तीसरे महायुद्ध की आशंका मँडरा रही है। टाइम बम की तरह अणु-बम भी विस्फोटित होने के लिए समय की प्रतीक्षा कर रहा है। विश्व की इस विकराल स्थिति से सभी देशों के कर्णधार चिन्तित हो उठे हैं। सोवियट रूस ने शान्ति का नारा बुलन्द किया है। अन्य शान्तिप्रिय राष्ट्र भी उसकी आवाज का साथ दे रहे हैं।

खेद है कि पश्चिमीय देशों के भाग्य-विधाता विज्ञान, राजनीति और मुद्रा-नीति की परिधि में ही परिस्थितियों पर विचार करते हैं। समस्याएँ इन्हीं कृत्रिम मानदण्डों (विज्ञान, राजनीति, मुद्रा-नीति) से उत्पन्न हुई हैं, अतएव इनसे अभ्यस्त राष्ट्रनायकों का इन्हीं की परिधि में सोचना उनके लिए स्वाभाविक है। किन्तु

यदि हमें विश्वशान्ति अभीष्ट है तो समस्याओं पर विचार करने के लिए सांस्कृतिक दृष्टिकोण को प्रधानता देनी चाहिये। एशिया ने जीवन के सात्त्विक मानदण्ड के रूप में शान्ति के नारे के साथ 'पञ्चशील'* सिद्धान्त को उपस्थित कर सांस्कृतिक दृष्टिकोण का ही श्रीगणेश किया है, इसी की राजनीतिक प्रतिक्रिया पाकिस्तान का 'सप्त' सिद्धान्त है।

२० अप्रैल को बादुङ्ग सम्मेलन म भारत ने एशिया और अफ्रीका की सांस्कृतिक सहयोग-समिति से कहा था—"राष्ट्रों मे सामञ्जस्य, एकता और सहयोग के लिए राजनीतिक सन्धियों की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए एक ही सुन्दर तरीका है, वह यह है कि हम एक-दूसरे को संस्कृति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करें, एक-दूसरे के मस्तिष्क और हृदय की भावनाओं को समझने का प्रयत्न करें।" भारत के इस मन्तव्य में सहिष्णुता, उदारता, नम्रता और गुण-ग्राहकता है।

सहृदय विचारकों ने बादुङ्ग-सम्मेलन को ऐतिहासिक दृष्टि से इस शताब्दी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा है। महत्त्वपूर्ण इसलिए कि उसमें राजनीति की संकीर्ण परिधि से मुक्त होकर

---

*(१) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना। (२) आक्रमण न करना। (३) एक-दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना। (४) समता और परस्पर लाभ। (५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

संस्कृति की विस्तीर्ण परिधि में पदार्पण करने का निश्चय किया गया है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि विश्व-मैत्री के लिए संस्कृति को ही आधार मानकर उसके विरुद्ध जाने-वाली राजनीतिक प्रवृत्तियों को स्थगित कर देने का सुझाव दिया गया है। बौद्धकाल के बाद इस युग में गान्धी जी ने अपने अहिंसा-त्मक आन्दोलन-द्वारा राजनीति का जो सांस्कृतिक कायाकल्प कर दिया था, क्या यह उसी की प्रतिष्ठापना का युग-संकल्प है ?

निःसन्देह विश्वमैत्री का आधार संस्कृति ही हो सकती है। प्रश्न यह है कि संस्कृति क्या है और स्वयं उसका (संस्कृति का) आधार क्या है ?

अंग्रेजी के कल्चर और संस्कृत की संस्कृति में एक ही संकेत है। गोस्वामी जी ने कहा है—

कृषी निरावहिं चतुर किसाना ।
जिमि बुध तजहिं मोह, मद, माना ॥

यदि संस्कृति को बाहर भीतर के इस कृषि-कर्म्म में ग्रहण किया जाय तो उसका आधार और स्वरूप स्पष्ट हो जायगा।

कृषि की परिष्कृति की तरह आत्मपरिष्कृति ही संस्कृति है। कृषि और संस्कृति, दोनों का आधार प्रकृति है। गाँवों में प्रकृति से ही मनुष्य को जीवन-यापन का साधन मिला, तपोवनों में उसी से आत्मविकास का वातावरण मिला।

पञ्चभूतों में सक्रिय प्रकृति जड़ नहीं, चेतन है। प्रकृति के उपादानों को विज्ञान की तरह जड़ मान कर हम उसका उपयोग

न करे, इसी का विवेक जगाने के लिए संस्कृति है। जहाँ कृति के साथ अन्तःसंज्ञा (आन्तरिक चेतना) का संयोग होता है वहाँ संस्कृति का प्रादुर्भाव होता है।

प्रकृति के आश्रय में जो संस्कृति मानव का मनोयोग बनती है वही उसका कर्मयोग भी बन जाती है। यों कहें, मानसिक रूप से जो संस्कृति आत्मसाधना बनती है, वही व्यावहारिक रूप से सामाजिक अथवा लौकिक साधना बन जाती है।

चेतना की तरह सूक्ष्म होकर भी संस्कृति सगुण अथवा सदेह है। यदि संस्कृति में प्रकृति की सजीवता है तो सगुण-रूप में वही देह और आत्मा बन गयी है। प्रकृति देहात्म है, अतएव संस्कृति भी सदेह है; उसमें रक्त-मांस (आहार-विहार), आत्मा (चेतना) सबका समावेश है। इस तरह धर्म्म और मोक्ष ही नहीं, अर्थ और काम भी मनुष्य की सांस्कृतिक साधना है।

संस्कृति अपने अनुरूप स्वाभाविक पुरुषार्थ चाहती है, ऐसा पुरुषार्थ जिसमें मनुष्य के तन-मन-प्राण का स्वस्थ विकास (सात्विक विकास) हो सके। गृहोद्योग और ग्रामोद्योग (शिल्प और कृषि) मनुष्य का वही नैसर्गिक पुरुषार्थ है। वैज्ञानिक युग (यन्त्र-युग) के पहिले सभी देशों का पुरुषार्थ ऐसा ही नैसर्गिक था। अतएव, जल-वायु की भौगोलिक भिन्नता के कारण सामाजिक और साम्प्रदायिक विविधता होते हुए भी सबकी मध्यकालीन संस्कृति में आन्तरिक एकता है। सच तो यह कि मानवीय सद्भावनाओं (स्नेह, सहानुभूति, श्रद्धा और सहयोग) में सब की संस्कृति एक है।

वह मध्ययुग आस्तिक युग था, प्रकृति में दिव्य चेतना का अस्तित्त्व मानता था। मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर उसकी इसी मान्यता के अधिष्ठान हैं, चेतना के देवालय हैं। विभिन्न शरीरों में एक ही आत्मा की तरह इन विविध अधिष्ठानों में एक ही संस्कृति की स्थापना है। इसीलिए गान्धी जी मत-मतान्तरों अथवा साम्प्रदायिक भिन्नताओं को महत्त्व न देकर सबको उन रचनात्मक कार्यों की ओर प्रेरित करते थे जिनके द्वारा उस आस्तिक युग की संस्कृति में हार्दिक एकता थी।

प्रश्न यह है कि यदि सब की संस्कृति एक थी तो मध्ययुग में 'क्रूसेड' अर्थात् धर्म्म-युद्ध क्यों हुए? इसका उत्तर हमारे देश के साम्प्रदायिक उपद्रवों से मिल जाता है। वे युद्ध धर्म्म-युद्ध नहीं थे, प्रच्छन्न रूप में राजनीतिक अथवा आर्थिक संघर्ष थे। आज पश्चिम के जिन वैज्ञानिक अथवा औद्योगिक देशों में साम्प्रदायिक द्वन्द्व नहीं है, वहाँ यही आर्थिक संघर्ष प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

मध्ययुग में औद्योगिक समस्याएँ नहीं उत्पन्न हुई थीं, क्योंकि जनता अपने रचनात्मक कार्य्यों में स्वावलम्बी थी; इसीलिए अर्थ की अपेक्षा उसकी सारी चेतना धर्म्म में केन्द्रित हो गयी थी। धार्म्मिक कलह (साम्प्रदायिक द्वेष) फैला कर ही उस युग में आर्थिक फूट फैलाया जा सकता था, अतएव स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए आर्थिक संघर्ष को धार्म्मिक संघर्ष का रूप दे दिया था। अब जब कि सभी देशों में वैज्ञानिक उद्योगों का प्रसार हो रहा है, साम्प्रदायिक संघर्ष पीछे छूटता जा रहा है,

आर्थिक संघर्ष वर्ग-संघर्ष में परिणत होता जा रहा है। कभी यह भी अतीत की कहानी हो जायगा।

मध्ययुग की जनता के रचनात्मक कार्य्यों में माध्यम और मूल्य उसके नैसर्गिक उद्योगों की तरह ही सजीव था। श्रम और सहयोग यही माध्यम और मूल्य था, यन्त्रोद्योगों के पहिले देहातों में इसी का प्रचलन था। राजनीति ने जब से मुद्रागत अर्थशास्त्र चलाया तब से श्रम का स्थान शोषण और सहयोग का स्थान स्वार्थ ने ले लिया। सामाजिकता का ह्रास और वैयक्तिकता का बोलबाला हो गया। आज मनुष्य अपनी चेतना में नहीं, सरकारी टकसालों में ढल रहा है। उसका यन्त्रीकरण हो गया है। वह व्यक्तित्व नहीं, टाइप बन गया है। जहाँ सबकी गति-मति टकसालों में निर्म्मित हो रही है वहाँ व्यक्तियों अथवा उनके समूहों में जीवन की विविधता अथवा विशेषता देखना व्यर्थ है; सभी तो एक ही साँचे के सिक्के हो गये हैं। उनमें स्पन्दन नहीं, संवेदन नहीं, अन्तःकरण नहीं। सब निर्म्मम निर्जीव जड़ धातु हैं।

मध्ययुग की स्वावलम्बी जनता यदि धर्म्म में केन्द्रित हो गयी थी तो इस युग की परावलम्बी जनता अर्थ में संकुचित हो गयी है। टका धर्म्म, टका कर्म्म, टका चर्म्म बन गया है। मनुष्य के हार्दिक सम्बन्ध समाप्त हो गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से विच्छिन्न हो गया है। चाहे जनता हो, चाहे नेता, सभी आत्मलिप्सु अथवा आर्थिक शोषक बन गये हैं।

टकसाली अर्थशास्त्र (मुद्रागत अर्थशास्त्र) अथवा राजनीतिक

दासता के दायरे में ही पूँजीवाद फला-फूला। अब उसी दायरे मे समाजवाद और साम्यवाद का दुर्द्धर्ष प्रयत्न किया जा रहा है। क्या यही क्रान्ति है? यह तो निर्जीव अर्थशास्त्र के ही नवीन राजनीतिक रूपान्तर का दुष्कर प्रयास है।

क्रान्ति तो तभी होगी जब अर्थशास्त्र मशीनी नहीं, मानवीय बन जायगा; राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक हो जायगा। इसके लिए जीवन के माध्यम और मूल्य में आमूल परिवर्त्तन करना होगा। यही सच्चा इन्क़लाब है। गान्धी जी अपने रचनात्मक कार्य्यों (मुख्यतः ग्रामोद्योगों) द्वारा यही इन्क़लाब लाना चाहते थे।

बादुंग-सम्मेलन में कहा गया है कि हम एक-दूसरे की संस्कृति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करें। प्रश्न यह है कि वह कौन-सी संस्कृति है जिसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया जाय? इस वैज्ञानिक युग ने तो अभी तक कोई संस्कृति नहीं दी—(यद्यपि कुछ लोग मशीनी संस्कृति का स्वप्न देखते हैं। क्या संस्कृति भी मशीनी हो सकती है?) सच तो यह कि टकसाली अर्थशास्त्र ने जैसे मनुष्य की सामाजिकता का ह्रास कर दिया वैसे ही यन्त्रोद्योगों ने उसके स्वाभाविक पुरुषार्थ का। फिर संस्कृति बनेगी कैसे?

सम्प्रति सभी देशों की संस्कृति मध्यकालीन है, अतीत की धरोहर है। उस संस्कृति का अभिप्राय मनुष्य की नैसर्गिक चेतना का विकास है। यदि वह अभीष्ट है तो उसके लिए सभी देशों में तदनुकूल औद्योगिक वातावरण मिलना चाहिये। यदि यह सम्भव नहीं है तो एक-दूसरे की संस्कृति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने से

क्या लाभ, जब कि उसकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं रह गयी है। फिर भी ईथर की तरङ्गों की तरह वायुमण्डल में कोई भी विचार मौखिक अथवा औपचारिक रूप में भी संक्रमण करता रहता है, प्रेरणा जगाता रहता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से समस्या आज मध्ययुग को आधुनिक युग में स्वायत्त अथवा आत्मसात् कर लेने की है। यह कार्य्य राज्यों के विलय, जमीदारियों के उन्मूलन और वाणिज्य के राष्ट्रीकरण-जैसा नहीं है। यह जीवन की दो भिन्न प्रणालियों के एकीकरण का बुनियादी कार्य्य है। प्रश्न यह है कि संस्कृति के साथ राजनीति का, प्रकृति के साथ विज्ञान का, ग्रामोद्योगों के साथ मुद्रा-नीति का सजीव सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है? इसी प्रश्न के उत्तर पर युग का भविष्य निर्भर है।

काशी,
बुद्ध पूर्णिमा
६ मई, सन् १९५५

समन्वय अथवा एकान्वय ?

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय का प्रयास इस युग का एक स्लोगन है। यह बौद्धिक स्केप जान पड़ता है। यह ध्यान देने की बात है कि समन्वय का प्रयास आदर्शवादियों-द्वारा ही किया जाता है, वैज्ञानिकों-द्वारा नहीं। कारण, वैज्ञानिक अपने ही यान्त्रिक युग में निवास करता है, समन्वयवादी दो भिन्न युगों (प्राचीन और अर्वाचीन युगों) में। वैज्ञानिक युग की सुविधाओं से वह लाभ उठाना चाहता है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में आदर्श का निर्वाह नहीं कर पाता, इसीलिए समन्वय की ओट में अपनी असमर्थता को छिपा लेता है, उसका आदर्श मौखिक अथवा बौद्धिक बन कर ही रह जाता है।

गलती आत्मवाद और भूतवाद को दो भिन्न तत्त्व मान लेने से हो रही है। इसी दृष्टि से दोनों को पूर्व और पश्चिम की विचार-धाराओं में विभाजित किया जाता है। क्या पूर्व में भौतिक सत्य और पश्चिम में आध्यात्मिक सत्य नहीं है? असल में पूर्व को मध्ययुग की दृष्टि से देखा जाता है और पश्चिम को आधुनिक युग की दृष्टि से, इसीलिए पूर्व की आध्यात्मिक प्रज्ञा और पश्चिम के भौतिक विज्ञान में पार्थक्य दिखाई पड़ता है। 'स्वर्णकिरण' में कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त कहते हैं—

वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम
मानवता को करे न खण्डित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत्
अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित।
—('स्वर्णोदय')

समन्वय की आवश्यकता आधुनिक विज्ञान के कारण आ उपस्थित हुई है। पाश्चात्य देशों में विज्ञान की उन्नति जिस अधिकता से हुई उसी परिमाण में वहाँ की मध्ययुगीन संस्कृति अथवा आध्यात्मिक चेतना का ह्रास हो गया। पूर्वीय देशों (विशेषतः भारत) में विज्ञान का पूर्ण आधिपत्य अभी नहीं हो सका है, अतएव, यहाँ किसी-न-किसी रूप में प्राचीन संस्कृति का संस्कार शेष है। इन्हीं परम्पराप्रिय देशों ने अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का स्वर मुखरित किया है। वैज्ञानिक देशों में भी प्राचीन संस्कृति का सर्वथा लोप नहीं हो गया है—(क्योंकि अणुविस्फोट ने अभी मध्ययुग को भूमिसात् नहीं कर दिया है); अतएव वहाँ भी प्राचीन और नवीन के समन्वय की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

समन्वय क्यों? क्या आत्मवाद और भौतिकवाद दो भिन्न तत्त्व हैं? बिना किसी स्थूल आधार के कोई सूक्ष्म तत्व जीवन्त नहीं हो सकता। पञ्चभूतों में बिखरी प्रकृति जब शरीर में संगठित और सजीव हो जाती है तब स्थूल तत्त्व ही सूक्ष्म भी बन जाता है, जैसे श्वास, सौरभ, सङ्गीत। सूक्ष्मता : स्थूलता का ही द्रवण है।

इस भौतिकवादी युग में ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक युग में भी स्थूल तत्त्व (वस्तुतत्व) को महत्त्व प्राप्त था। अन्तर यह है

कि स्थूल तत्त्व जड़ नहीं, चेतन था। आज जिसे हम विज्ञान कहते हैं उसमें जड़त्व ही घनीभूत हो गया है। विज्ञान ने भी पञ्चभूतों में बिखरी प्रकृति को संगठित कर दिया है, किन्तु उसका निर्म्माण जीवित शरीर नहीं, निर्जीव यन्त्र बन गया है। उसने प्रकृति की नैसर्गिक सजीवता को लुप्त कर दिया है।

प्रकृति के निष्प्राण हो जाने के कारण आज जीवन में जो असन्तुलन आ गया है उसी को सन्तुलित करने के लिए विज्ञान के साथ अध्यात्म के समन्वय का अस्वाभाविक प्रयास किया जा रहा है। जैसे मशीनी पुतले को गणितज्ञ बनाया जा सकता है वैसे ही उसे दार्शनिक भी बनाया जा सकता है, किन्तु वह मनुष्य का स्थान तो नहीं ले सकता।

हमें ऐसे भौतिक प्रयत्नों को अग्रसर करना है जिनके द्वारा आत्मज्ञान स्वतः प्रसूत हो। यह दिव्य कार्य्य प्रकृति के साथ समरस होकर ही किया जा सकता है। कृषि और शिल्प में ही मनुष्य प्रकृति के साथ समरस होता रहा है। इन्हीं सजीव उद्योगों से अध्यात्म भी अंकुरित और प्रस्फुटित हो जाता था। इसीलिए, जनक ने हल चलाया था, कृष्ण ने गोचारण किया था, कबीर ने चर्खा-कर्घा से जीवन का ताना-बाना बुना था।

प्रकृति के अतिरेक-व्यतिरेक से जैसे शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है वैसे ही उद्योग भी विकारग्रस्त हो जाता है। विज्ञान में प्रकृति का अतिरेक और व्यतिरेक हो गया है, इसीलिए वह जड़-भौतिकवाद बन गया है, उसमें मनुष्य का मर्म्मस्पर्श नहीं है।

नि:सन्देह विज्ञान : प्रकृति और मनुष्य से अधिक शक्तिशाली है। यों कहें, उसमें अप्राकृतिक और अमानुषिक पराक्रम है। ऐसा ही तो असुरों का भी बल-विक्रम था, किन्तु वह तो सृष्टि का आदर्श नहीं था। प्राणियों के परिमित शरीर में प्रकृति ने जितनी पञ्चभौतिक शक्ति संगठित कर दी है, उतनी ही सामर्थ्य से किया गया उद्योग नैसर्गिक एवं माङ्गलिक हो सकता है। प्रश्न यह है कि यदि दैहिक शक्ति के अनुरूप किया गया पुरुषार्थ ही पर्य्याप्त है तो संसार में इतना अकाल क्यों फैला हुआ है? इसका कारण, उद्योग की तरह उपभोग में भी प्रकृति का अतिरेक-व्यतिरेक हो गया है।

जिस तरह मनुष्य के बदले कोई मशीनी पुतला उपभोक्ता बन कर उसे तृप्त नहीं कर सकता, उसी तरह यन्त्रवल औद्योगिक माध्यम बन कर मनुष्य को नहीं जिला सकता। उपभोग और उद्योग : दोनों ही प्राकृतिक प्रेरणाएँ हैं। जिस प्रकृति ने मनुष्य को शरीर दिया है उसी प्रकृति ने उसके पुरुषार्थ के लिए विस्तृत धरा-तल भी प्रस्तुत किया है। प्रकृति और मनुष्य में माता और पुत्र का-सा सीधा सम्बन्ध होना चाहिये। उनके बीच में कोई कृत्रिम व्यवधान (वैज्ञानिक अथवा यान्त्रिक व्यवधान) नहीं पड़ना चाहिये, तभी दोनों जी सकते हैं। जहाँ प्रकृति और मनुष्य में सीधा सम्बन्ध स्थापित होता है वहीं अर्थ, धर्म्म, काम, मोक्ष में सामञ्जस्य आ जाता है। इनमें से किसी एक को भी ठीक-ठीक साध लेना, सबको साध लेना है। ये चार पुरुपार्थ एक-दूसरे के पर्य्याय हैं; ये समन्वित नहीं, एकान्वित हैं।

यदि पूर्व और पश्चिम, दोनों के मध्ययगीन जीवन-दर्शन को सामने रख कर विचार किया जाता तो अध्यात्मवाद और भूतवाद में पार्थक्य नहीं जान पड़ता। प्रकृति ही जैसे उस युग में संस्कृति बन गयी थी, वैसे भौतिक तत्त्व ही आध्यात्मिक तत्त्व में परिणत हो गया था; मिट्टी ही वैदेही बन गयी थी। आधुनिक युग के विज्ञान से अध्यात्म चाहे सम्भव न हो, किन्तु मध्ययुग के भौतिक प्रयास से अध्यात्म का उद्भव अनिवार्य्य था, शरीर से आत्मा की तरह।

हमारे देश में पूर्व (अध्यात्म), और पश्चिम (विज्ञान), के समन्वय का उद्‌घोष सर्वप्रथम १९ वीं सदी के अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त वङ्गीय मनीषियों द्वारा सुनाई पड़ा। स्वनामधन्य स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ इसके उद्भावक हैं। पश्चिम के सांस्कृतिक मनीषी भारत के अध्यात्मवाद के श्रद्धालु रहे हैं, भारत के आधुनिक अध्यात्मवादी पश्चिम के विज्ञान पर लुब्ध होते आये हैं—(राधाकृष्णन् शायद इसके अपवाद हैं।) दोनों दिशाओं में जिस तत्त्व का अभाव अनुभव किया जा रहा था उसके प्रति विशेष आकर्षण होना स्वाभाविक ही था।

कविश्री सुमित्रानन्दन पन्त भी समन्वयवादी हैं। वे साहित्य में भी उक्त वङ्गीय मनीषियों से प्रभावित हैं और जीवन में भी। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—"मैं यूरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ।"—पन्त जी ने भी 'स्वर्णकिरण' में इसी उद्‌गार को प्रतिध्वनित किया है—

पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्वतन्त्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित!

दूर के ढोल सुहावन ! पश्चिम में जीवन का सौष्ठव कहाँ है ? सम्प्रति पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन कहीं भी जीवन का सौष्ठव नहीं है। सभी दिशाएँ शून्य हो गयी हैं। यदि पश्चिम का अभिप्राय १६ वीं शदी की आंग्ल सामाजिक सुषमा से हो तो उस रूप में उसे कौन अस्वीकार करेगा ! हमारे साहित्य में जैसे वहाँ के रोमैन्टिक रिवाइवल का प्रभाव पड़ा वैसे ही जीवन में पश्चिम की परिष्कृत सुरुचि का भी। रवीन्द्र और पन्त उसके भारतीय दृष्टान्त हैं।

पश्चिम की उन्नीसवीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति हो गयी थी, किन्तु वह पूर्णतः वैज्ञानिक युग नहीं था। मध्ययुग से उसका हार्दिक सम्बन्ध बना हुआ था, उसने उसी युग के नैसर्गिक जीवन को निखार दिया था। भारत का आध्यात्मिक दृष्टिकोण लेकर जिन लोगों ने उस नवजीवन को अपनाया उन्होंने दो भौगोलिक भूखण्डों के मध्ययुगीन विकास का ही संयोजन किया।

यह तो अच्छा ही हुआ। किन्तु आगे चलकर औद्योगिक क्रान्ति जब यन्त्रप्रधान हो गयी तब इस प्रकार के समन्वयवादी प्रकृतिस्थ नहीं रह सके। मध्यकालीन कर्म्मयोग के अभाव में विज्ञान के आश्रित हो गये। वे अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करने लगे। यद्यपि अणुबम ने अपने वैज्ञानिक उत्कर्ष से उन्हें आतङ्कित कर दिया, तथापि उनका विश्वास विज्ञान पर बना रहा।

पन्तजी ने अपने 'शिल्पी' नामक विविध काव्यरूपक में एक गीतनाट्य अणु-युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखा है। शीर्षक है

'ध्वंस शेष'। इसमें दिखलाया है कि अणु-युद्ध से ध्वस्त होकर अब तक के सभी मानवीय प्रयास पुरातत्व की तरह भूगर्भ में समा जाते हैं। युद्ध के दस वर्ष बाद की पीढ़ी पुनर्निम्र्माण का साधन पा जाने के लिए जब पृथ्वी को खोदती है तब उसमें से हमारे इस ह्रासोन्मुख युग की राजनीति, अर्थनीति, वर्गसभ्यता, इतिहास, इत्यादि की खण्डित मूर्त्तियों के अतिरिक्त एक मूर्त्ति विज्ञान की भी निकल आती है। उसे देख कर दर्शक कहता है—

भस्मासुर-सा, अणु बल का वरदान प्राप्त कर
यह अपने ही वरद हस्त से स्वयं भस्म हो गया!

फिर कोई स्वर (मानों भविष्य) कहता है—

नहीं, नहीं...यह अधिक समय तक भस्मावृत हो
नहीं रहेगा! यह अपने ही भस्म शेष से

नव्य जन्म ले, पुनः जी उठेगा पृथ्वी पर!
इसके भीतर भूतसत्य का अमृत अंश है,

इसको अपने ही विनाश से पाठ सीख कर
विध्वंसक से निम्र्मायक बनकर जगने दो!

इन शब्दों में पन्त जी ने विज्ञान के प्रति अपना विश्वास व्यक्त किया है। उसके भीतर उन्होंने भौतिक सत्य का अमृत अंश (रचनात्मक अंश) देखा है। शान्तिवादी राजनीतिज्ञ भी यह मानते हैं कि अणुबम से निम्र्माण-कार्य्य हो सकता है। प्रश्न यह है कि क्या उससे अध्यात्म-तत्व का भी उत्थान हो सकेगा? 'अमृत अंश' उसी भूतसत्य में सम्भव है जिससे अध्यात्म का उद्भव हो।

पन्त जी ने युद्धोत्तर पृथ्वी के भीतर से निकाल कर मार्क्स को देखा है, किन्तु गान्धी और ग्रामोद्योग को नहीं देखा। हाँ, संस्कृति को उन्होंने सर्वोपरि महत्त्व दिया है। 'ध्वंसशेष' में उसका भी अवतरण होता है—

"बाह्य शक्तियाँ जब अपने ही युग-विप्लव में
ध्वंस भ्रंश हो जातीं, कटु संघर्षण में निरत,
अन्तर के शाश्वत प्रकाश से यह नव जीवन,
नव मन निर्म्मित करती रहती नव चेतन हो।"

इस संस्कृति का आधार क्या है? आधार के बिना उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता। आधार क्या विज्ञान हो सकता है? विज्ञान में पन्तजी भौतिक तत्त्व का 'अमृत अंश' देखते हैं, संस्कृति में अध्यात्म का अमृत स्पर्श। इस द्वित्व के कारण ही उन्हें समन्वय की आवश्यकता जान पड़ती है।

हमें समन्वय नहीं, अद्वैत चाहिये। 'ध्वंसशेष' में पन्त जी ने जिस संस्कृति के लिए कहा है—'दिव्य मातृ चेतना बन गयी प्रकृति-चेतना', उस संस्कृति की प्रकृति-चेतना किससे उज्जीवित-सञ्जीवित हो सकती है? विज्ञान के यन्त्रोद्योग से अथवा गान्धी के ग्रामोद्योग से? वस्तुतः भौतिक तत्त्व का अमृत-अंश और संस्कृति का अमृत स्पर्श दोनों एक ही मातृ-प्रकृति के कार्य्य (उद्योग) और परिणाम (मनोयोग) हैं। यदि उद्योग में हम प्रवृत्ति को साध ले तो भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में द्वैत नहीं रह जायगा।

पन्त जी युग की रुग्णता का ठीक निदान करते हैं, सांस्कृतिक

चेतना के द्वारा उपचार भी ठीक बताते हैं, किन्तु उनका क्रियाकल्प (रचनात्मक दृष्टिकोण) स्पष्ट नहीं है।

आधुनिक (वैज्ञानिक) भौतिकवाद और पुराकालिक (प्राकृतिक) अध्यात्मवाद में वैभिन्य के कारण पन्त जी अपनी रचनाओं में दुहरे संघर्ष (भीतर आत्मिक संघर्ष और बाहर भौतिक संघर्ष) की बात कहते हैं। ये दोनों ही संघर्ष सैद्धान्तिक स्तर पर ही हैं, व्यावहारिक स्तर पर वे भौतिक संघर्ष को उसके भाग्य पर छोड़ देते हैं। कहते हैं—

कौन रोक सकता उद्वेग भयङ्कर
मर्त्यों की परवशता मिटते कट-मर

—('उत्तरा')

क्या आध्यात्मिक और भौतिक द्वन्द्व दोनों एक ही सांस्कृतिक संघर्ष नहीं बन सकते?—भीतर अन्तःशुद्धि और बाहर उसी के सत्याग्रह की तरह। वस्तुतः यह संघर्ष नहीं, आत्मनिर्म्माण है। व्यक्तिगत रूप से जो आत्मसाधना है, सार्वजनिक रूप से वही विश्वसाधना।

वर्त्तमान वास्तविकता से वानप्रस्थों की तरह निर्लिप्त हो जाने के कारण पन्त जी इस युग के दर्शक और भविष्य के दिग्दर्शक स्वप्नद्रष्टा बन गये हैं। नयी पीढ़ी को नक्षत्रों के रूप में देखकर कहते हैं—

वे देव-बाल भू को घेरे
भावी भव की कर रहे पुष्टि!

—('युगान्त')

पन्त जी का युग जैसे अणु-युद्ध के बाद आता है वैसे ही उनके जनों का सामाजिक जीवन भी भविष्य में ही प्रारम्भ होता है।

'ध्वंसशेष' के चतुर्थ दृश्य में उन्होंने भारतीय आश्रम का वातावरण दिखलाया है। युद्धोत्तर राजनीति के श्रद्धालु और जिज्ञासु लोक-प्रतिनिधियों का वहाँ समागम होता है। वे आश्रम के वातावरण से प्रभावित होते हैं और संस्कृति की सात्विक प्रेरणाएं ग्रहण करते हैं। पुराकाल में भी ऐसा ही होता था। इस युग में भी सेवाग्राम में लोकप्रतिनिधियों का आवागमन होता था और वे गान्धी जी के परामर्श से लाभ उठाते थे। वहाँ उन्हें सांस्कृतिक मंत्रणा ही नहीं मिलती थी, अपितु रचनात्मक कार्य्यों की प्रेरणा भी मिलती थी। यों कहें, संस्कृति से ही रचनात्मक कार्य्यों की उत्पत्ति होती थी, इसीलिए संस्कृति ही राजनीति भी बन गयी थी। चाहे खादी को अपनाइये, चाहे सत्याग्रह को, चाहे हिन्दू-मुस्लिम एकता को, चाहे अछूतोद्धार को; इन सभी कार्य्यों का मर्म्मविन्दु एक ही सात्त्विक चेतना का अन्तःकरण है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर इसी चेतना के कार्य्यक्रम का और भी विस्तार किया जा सकता है। कार्य्यों का अन्त नहीं है, किन्तु उनका केन्द्रीकरण अन्तस्थ होना चाहिये, यही संस्कृति का निर्देश है। आत्मस्थता के अभाव में तिल भी ताड़ हो जाता है, स्वस्थ अन्तःकरण से ताड़ भी तिल हो जाता है।

'ध्वंसशेष' में पन्त जी ने सेवाग्राम की नहीं, पाण्डुचेरी के अरविन्द आश्रम की स्थापना की है, जो अगजग से तटस्थ मानों संस्कृति का

एकान्त उपनिवेश बन गया है। संस्कृति क्या अपने आप में ही विरल है?

पन्त जी ने अपने युग के सभी विशिष्ट पुरुषों का गुणगान किया है। उन्होंने गान्धी जी की भी प्रशस्ति की है और कार्लमार्क्स की भी स्तुति की है। किन्तु वे दोनों के प्रति प्रश्नोन्मुख भी हैं। गान्धी उन्हें भौतिक दृष्टि से और मार्क्स आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्ण जान पड़ता है। परिपूर्णता उन्हें योगिराज अरविन्द में मिली। बलिहारी!

गान्धी जी को मध्ययुग की व्यक्तिगत साधना के ही प्रतिनिधि-रूप मे देख कर 'ग्राम्या' में पन्त जी ने कहा था—

किये प्रयोग नीति-सत्यों के तुमने जन जीवन पर
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन हित

पन्त का यह विचार उनके मार्क्सवादी मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ था। अब अरविन्द के प्रभाव में आ जाने पर मार्क्स का प्रभाव कम हो गया। वास्तविकता यह है कि अरविन्द की ही साधना व्यक्तिगत साधना थी, गान्धी की आत्मसाधना सार्वजनिक साधना। अरविन्द मध्ययुग की निर्गुण-परम्परा में थे, गान्धी उस सगुण-परम्परा में जिसकी आत्मसाधना लोकसंग्रही थी।

जैसा कि 'ग्राम्या' में पन्त जी ने कहा है 'वस्तु-विभव पर ही जनगण का भाव-विभव अवलम्बित'; आत्मसाधना को लोक-साधना में परिणत हो जाने के लिए इसी वस्तुत्व की आवश्यकता है। पन्त जी ने गान्धी को भावसत्य का ही साधक समझ कर कहा था—

वस्तुसत्य का करते भी तुम जग में यदि आवाहन
सबसे पहिले विमुख तुम्हारे होता निर्धन भारत

क्या गान्धी के रचनात्मक कार्य्यों में वस्तुसत्य नहीं था? कोई कोरा मार्क्सवादी गान्धी को अभौतिक कह सकता है, किन्तु खादी, चर्खा, भारतमाता, हल-बैल पर कविता लिखने वाले कवि पन्त जी यह कैसे कह सकते हैं! गान्धी के प्रयत्नों में कार्य्य और परिणाम की तरह वस्तुसत्य ही भावसत्य बन गया था। दोनों में पार्थक्य नहीं, तारतम्य था।

यदि जीवन का अर्थ आत्महत्या नहीं है तो वस्तुसत्य अथवा भूतत्त्व को कौन अस्वीकार कर सकता है। प्रश्न यह है कि वस्तु-सत्य क्या वैज्ञानिक ही हो सकता है, नैसर्गिक नहीं? समस्या भौतिक वाद के स्वीकार-अस्वीकार करने की नहीं है, निश्चित यह करना है कि भौतिकवाद का स्वरूप क्या हो? इसी निश्चय के अभाव में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद में द्वन्द्व जान पड़ता है। मध्ययुग में साधन और साध्य का यह द्वन्द्व नहीं था, द्वन्द्व आधुनिक युग में उत्पन्न हो गया है। आज कल आधुनिकता का अभिप्राय वैज्ञानिकता ही समझा जाता है।

भौतिकवाद के स्वस्थ स्वरूप का निर्णय प्रकृति को शीर्षस्थान देकर ही किया जा सकता है। हमे ऐसे भौतिक प्रयत्नों की आवश्य-कता है जिनसे मनुष्य का तात्कालिक लाभ ही न हो, चिरस्थायी कल्याण भी हो; मनुष्य का ही नहीं, प्रकृति का भी पोषण हो, उसकी उर्व्वरता और अजस्रता की रक्षा हो। क्या यह वैज्ञानिक

यन्त्रोद्योगों से सम्भव है ? यन्त्रोद्योगों ने अर्थशास्त्र को एक-सा ही निश्चेतन और नीरस कर दिया है । जीवन में विविधता और नूतनता का अभाव हो गया है। यान्त्रिक वाहनों की तरह मनुष्य भी बँधी हुई पटरियों पर दौड़ने लगा है । उसमें मनोरथ की मनोरमता नहीं है। किसी भी यान्त्रिक उद्यम में प्रकृति और मनुष्य दोनों ही जड़ हो जाते हैं, उनमें उनकी अपनी स्वाभाविक गति-यति-मति नहीं रह जाती, वे इतने चुस्त हो जाते हैं कि स्वयं हिल-डुल नहीं सकते।

वैज्ञानिक प्रयत्नों की जड़ता को सजीव करने के लिए समन्वय-वादी उसमें अध्यात्म का समावेश करना चाहते हैं। एकान्वय का दृष्टिकोण खादी-जैसा है, समन्वय का दृष्टिकोण हंडलूम-जैसा । उसमें यन्त्र और मनुष्य का सहयोग है । खादी में प्रकृति और मनुष्य का कर्म्मयोग है । उसमें आध्यात्मिकता और उपयोगिता के सहज समावेश से अर्थशास्त्र सात्त्विक एवं अहिंसक हो जाता है । यदि समन्वय का अभिप्राय पूर्व (अध्यात्म) और पश्चिम (विज्ञान) का संयुक्ती-करण नहीं, अपितु आत्मा और देह का एकीकरण हो तो खादी इसके लिए एक निर्म्मल निर्देशन है। उससे देह का पोषण भी होता है और आत्मा का उन्नयन भी । पूरब-पश्चिम सर्वत्र मनुष्य को यही तो चाहिये ।

खादी केवल वस्त्राच्छादन नहीं, उसमें ग्रामोद्योगों का जीवन-दर्शन है, प्रकृति का मानवीकरण और उसका सामाजिक स्पन्दन है।

जो लोग समन्वय की बात कहते हैं वे आधुनिक युग के 'प्रच्छन्न

बौद्ध' हैं। ऐसे समन्वयवादी जब खादी और अहिंसा का विरोध करते हैं तब उनका जड़ भौतिक (वैज्ञानिक) रूप ही प्रत्यक्ष हो जाता है। रवीन्द्र ने चर्खा-कर्घा का और अरविन्द ने गान्धी की अहिंसा का विरोध किया था।

पन्त जी ने भी 'ग्राम्या' में कहा था—

बन्धन बन रही अहिंसा आज जनों के हित,
वह मनुजोचित निश्चित, कब ? जब जन हों विकसित।

जनता को विकसित करने के लिए ही तो अहिंसा है। उसके अतिरिक्त पन्त जी किस अन्य विकास का स्वप्न देखते हैं ? 'उत्तरा' की प्रस्तावना में उन्होंने कहा है, अहिंसक होना मनुष्य होना है। इस रूप में अहिंसा अवसर -विशेष की ही नहीं, प्रत्येक क्षण की साधना है।

रवीन्द्र, अरविन्द, पन्त के जीवन-दर्शन में यह विरोधाभास जान पड़ता है कि ये लोग संस्कृति तो आर्ष युग की चाहते आये हैं और अर्थशास्त्र अनात्म वैज्ञानिक युग का।

यदि संस्कृति का आधार प्रकृति है तो उसे आदर्श में ही नहीं, व्यवहार में भी स्थान मिलना चाहिये। मध्ययुग में प्रकृति को साहित्य और जीवन दोनों में स्थान मिला था। उसके बाद छाया-वाद में प्रकृति का दार्शनिक और शृंगारिक पक्ष बना रहा, किन्तु जीवन में उसका अस्तित्व लुप्त हो गया। फुरसत के समय वह बागवानी और पिकनिक की तरह शौक की चीज रह गयी।

गान्धी जी ने ही प्रकृति को पुनः जीवन में स्थान दिया। उसे उन्होंने ग्रामोद्योगों का जीवन्त रूप दे दिया, उसके भाव-पक्ष (काव्य-पक्ष) को व्यावहारिक अथवा आर्थिक आधार मिल गया।

यन्त्रोद्योगों के कारण आज अर्थशास्त्र में जो जड़ता और एकरसता आ गयी है उसका परिहार ग्रामोद्योगों से ही किया जा सकता है। उसके बिना न तो व्यक्ति का विकास हो सकता है और न समाज का संगठन हो सकता है। न संस्कृति जी सकती है, न कला पनप सकती है। आज जिन लोकनृत्यों और लोकगीतों का रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन किया जाता है, वे कभी लोकजीवन के अन्तःस्पन्दन थे। यदि अर्थशास्त्र को ग्रामीण नहीं बनाया गया तो किसी दिन ये लोककलाएँ प्रदर्शन के लिए भी रूढ़ि-शेष नहीं रह जायँगी, ताबूतों के भीतर शव की तरह म्यूजि यमों में ही स्मृति-शेष हो जायँगी।

वैज्ञानिक युग में औद्योगिक समस्या जीवन की शैली की समस्या बन कर आ उपस्थित हुई है। बड़े उद्योग (यन्त्रोद्योग) और छोटे उद्योग (गृहोद्योग) इस समस्या के ही आर्थिक पहलू हैं। क्या दोनों तरह के उद्योग साथ-साथ चल सकते हैं? यदि नहीं तो किसे प्राथमिकता दी जाय? इसका निर्णय हम कृषि के माध्यम से कर सकते हैं। उसी पर सब उद्योग अवलम्बित हैं, अतएव, खेती और उद्योग में सन्तुलन होना चाहिये। ट्रैक्टर और रासायनिक खाद से अथवा हल-बैल-हाथी और गोधन से, किससे कृषि की उर्वरता

अक्षुण्ण रह सकती है ? खेती के जैसे साधन होंगे वैसे ही उद्योग बन जायँगे।

गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की तरह उत्तुङ्ग इन बड़े-बड़े उद्योगों को देखकर चकित और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं हो जाना चाहिये। हमें पृथ्वी की ओर देखना चाहिये। भविष्य ही बतलायेगा कि अणु-युद्ध के बाद क्या 'ध्वंस शेष' रह गया!

पश्चिमीय विचारक जार्ज रसल ने कहा है—"मानवता के लिए यह एक अत्युत्तम बात होगी कि उसकी सभ्यता की नींव ग्रामोद्योगों पर आधृत हो, नगरों के उद्योगों पर नहीं।"

यदि संस्कृति और कला की बुनियाद ग्रामोद्योग (प्रकारान्तर से नैसर्गिक उद्योग) बन सकता है तो इस युग के रचनात्मक कार्य्य-कर्त्ताओं के कर्त्तव्य की दिशा भी गङ्गा की धारा की तरह स्पष्ट है। वह उन्हें यही उद्बोधन दे रही है——

"गाँव-गाँव में भरो उपज, खेतों में कञ्चन
कर दो सहज सराग प्रकृति का अञ्चल पावन"

काशी,
१५-६-५५

साहित्य का व्यवसाय

मनुष्यता पर जैसा सर्वनाशी संकट वर्त्तमान जड़वादी युग में आ उपस्थित हुआ है वैसा मध्ययुग के सामन्तवाद में भी नहीं आया था। समाज का विविध वर्ग केवल संकीर्ण स्वार्थों का दस्यु-समूह बनता जा रहा है।

मानवता के संकटग्रस्त हो जाने पर युग का आदर्श अपने मन, वचन और कर्म्म से राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक नेता उपस्थित करते आये हैं। किन्तु क्या इस युग में भी वे आदर्श के प्रतिष्ठाता हैं! वास्तविकता यह है कि अशिक्षित जनता का शोषण जब तक सम्भव है तब तक साहित्य, समाज, राजनीति की सभी स्वार्थ-सजग शक्तियाँ अपने को परिपुष्ट करने के लिए नेतृत्व की प्रतिस्पर्द्धा कर रही हैं। जनता का शुभचिन्तक कोई नहीं है; वह अनाथ है, भाग्याधीन है।

कहा जाता है, यह व्यापारिक युग है। इस युग का भाग्य उस 'चोर बाजार' से हो जाता है जिससे जनता का जीवन तो दुर्लभ हो ही गया था; सरकार की सत्ता के लिए भी खतरा पैदा हो गया था। सरकारी नियन्त्रण से व्यापार यद्यपि कुछ अनुशासित हो गया है, किन्तु पूँजीवाद अभी बना हुआ है, अतएव उसकी दस्यु मनोवृत्ति से जीवन का कोई भी क्षेत्र मुक्त नहीं हो सका है।

पूँजीवाद के दूषित वातावरण में सरस्वती के मन्दिर का नैवेद्य साहित्य भी बाजार का सौदा हो गया है। हिन्दी जबसे राष्ट्रभाषा घोषित हो गयी है तबसे उसका प्रकाशन-क्षेत्र बहुत फैल गया है। रोज नये-नये प्रकाशक उत्पन्न हो रहे हैं, रोज अनाप-शनाप न जाने कितनी किताबें छप रही हैं। प्रकाशन के अनुपात से पाठकों की संख्या अभी बढ़ी नहीं है, छोटे-से दायरे में सभी प्रकाशक छल-बल-कल से अपनी-अपनी किताबें खपाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

प्रकाशन की इस बाढ़ में से अच्छे साहित्य का चुनाव करना साधारण जनता के लिए सम्भव नहीं है। जनता के मानसिक स्तर को ऊपर उठाने का दायित्व पुस्तकालयों, स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों के जिम्मे है। किन्तु ये भी पूँजीवादी वातावरण से अछूते कहाँ हैं! जिस युग में शिक्षा भी अर्थोपार्जन का साधन है, उस युग में किससे क्या आशा की जाय, किससे क्या कहा जाय!

शिक्षा के स्तर के साथ-साथ स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों में साहित्य का स्तर भी बहुत गिर गया है। बाजार में जैसे वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है वैसे ही वहाँ विद्यार्थियों के मस्तिष्क का भी सौदा होता है।

शिक्षा-संस्थाओं में पाठ्यक्रम के रूप में साहित्य का व्यवसाय धड़ल्ले से चल रहा है, प्रकाशकों और अध्यापकों द्वारा। प्रकाशक गलत-सलत जैसा भी साहित्य छाप कर दे देते हैं, अध्यापक उसे आँख मूँद कर कोर्स में रख लेते हैं। अध्यापकों के कुछ अपने प्रकाशक हैं, पहिले वे उन्हें अवसर देते हैं, बाद में यदि गुंजाइश

हुई तो किसी और को। हर एक शिक्षा-संस्था में कुछ ऐसे कर्म्मचारी होते हैं जो प्रकाशकों और अध्यापकों के बीच दलाल का काम करते हैं, या अध्यापक स्वयं ही अपने दलाल बन जाते हैं। जब तक अर्थशास्त्र आमूल नहीं बदल जाता तब तक प्रचलित अर्थशास्त्र से सञ्चालित सरकार भी शिक्षासंस्थाओं का भ्रष्टाचार दूर नहीं कर सकती।

देश के स्वतन्त्र हो जाने और हिन्दी के राष्ट्रभाषा घोषित हो जाने पर पुस्तकें जितनी अशुद्ध छप रही हैं उतनी अशुद्ध पहिले नहीं छपती थीं। एक तो इस राजनीतिक युग में राष्ट्रभाषा की यों ही दुर्दशा हो रही है, तिस पर प्रकाशकों की लापरवाही से ठीक से प्रूफ़ नहीं देखा जाता। चटकीले-भड़कीले कवर लगा कर वे चाहे जैसी रद्दी छपी किताब बाजार में भेज दें, उन्हें कौन रोकने वाला है।

जैसे प्रकाशक हैं, वैसे ही लेखक भी।

किसी युग में साधना-द्वारा जितनी ख्याति मिलती थी, उतनी ख्याति इस प्रेस के जमाने में असंयत और असिद्ध व्यक्ति भी आसानी से पा जाता है। यही कारण है कि अशुद्ध हिन्दी लिखनेवाले भी गण्यमान्य लेखक कहलाते हैं। ऐसे लेखक राजनीतिक पहिले हैं, साहित्यिक बाद में।

एक तो अशुद्ध भाषा, तिस पर अशुद्ध छपाई! विद्यार्थियों को अच्छी हिन्दी का ज्ञान कैसे होगा!! साहित्य की नयी पीढ़ी भोंड़ी

हो जायगी। स्वतन्त्रता क्या हमें झाड़-झंखाड़ उगाने के लिए ही मिली है।

भाषा के शुद्ध रूप के अधिष्ठाता हमारे तपःपूत साहित्यकार ही हो सकते हैं। वे हिन्दी की दुर्दशा से चिन्तित हैं लेकिन उनकी आवाज कौन सुनता है? जिनकी पीठ पर सरकारी मुहर नहीं लगती उनकी बात का कोई मूल्य नहीं होता।

सरकार तरह-तरह की समितियाँ बनाती है, इन समितियों से सरल कार्य्य भी कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए लिपि-सुधार का दुष्प्रयास देखा जा सकता है। मशीनों की सुविधा के लिए गौ की तरह सीधी-सादी देवनागरी का ऐसा अङ्ग-भङ्ग किया गया है कि वाणी के प्राण छटपटा रहे हैं। मशीन के सुभीते के लिए क्या इसी तरह आदमी को भी काटा-छाँटा जा सकता है! सरकार को जो मूलभूत कार्य्य करना चाहिये वह तो करती नहीं, अकुशल माली की तरह फुनगियों को तराशती रहती है। लिपि-सुधार की अपेक्षा सरकार यदि पुस्तकों की शुद्ध छपाई की ओर ध्यान देती तो साहित्य का बड़ा उपकार होता। पुस्तकों का अशुद्ध छापना दण्डनीय अपराध होना चाहिये।

लिपि केवल लिखावट नहीं है, उसमें हमारी संस्कृति की आकृति-प्रकृति है। सरकार को ही हम क्या कहें, जब कि संस्कृति के उपासक साहित्यकार भी अक्षरों में से पञ्चम वर्ण लुप्त करते जा रहे हैं। एक ओर भाषा को वे संस्कृतनिष्ठ बनाना चाहते हैं, दूसरी

ओर दंगा और गंगा (गङ्गा) दोनों के सिर पर शून्य लगा कर मशीनी गुलामी को स्वीकार कर रहे हैं।

भाषा के व्यक्तित्व की रक्षा के लिए देसी शब्दों और संस्कृत शब्दों की अक्षरी में अन्तर होना चाहिये। धर्म और धर्म्म, सौन्दर्य और सौन्दर्य्य, निर्माण और निर्म्माण इत्यादि शब्दों में से जुड़वाँ अक्षरों को हटा देने से शब्दों का अन्तःकरण रिक्त हो जाता है, उनकी ध्वनि क्षीण हो जाती है।

सुधारक कहेंगे, इस युग में जब कि मशीनी सुविधा के लिए हम मात्राओं को सिमटा रहे हैं तब अक्षरों के व्यर्थ विस्तार का अनावश्यक भार भला कौन सँभाले! किन्तु यह व्यर्थ और अनावश्यक नहीं है। पुरानी अक्षरी और मशीनी अक्षरी में दो भिन्न युगों के जीवन का क्षेत्रफल अन्तर्निहित है। वैदिक अक्षरों का रूप उस युग में निर्म्मित हुआ था जब हम प्रकृति की गोद में फैलते और फलते-फूलते थे, मशीनी अक्षरों का रूप ऐसे युग में निर्म्मित हो रहा है जब जनसंकुल आबादी के कारण लोग नगरों में सिकुड़ते जा रहे हैं। क्या जीवन का यही सँकरा रूप स्वाभाविक और टिकाऊ है? हम क्या ठसाठस भरी ट्रेन के डिब्बों के मुसाफिर ही बने रहेंगे, क्या हमारी कोई अन्य स्थिति नहीं है?

जीवन के अन्यान्य प्रसङ्गों की तरह भाषा और लिपि के रूप में भी हमारे सामने मनुष्य और यन्त्र, प्रकृति और विकृति, संस्कृति और अर्थनीति का प्रश्न आ उपस्थित हुआ है। हमें यह निश्चित करना है कि किसका अनुसरण करें।

साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य की चेतना से है, साहित्य के व्यवसाय का सम्बन्ध आर्थिक जड़ता से। चेतना के प्रतिनिधि होकर जो लेखक और अध्यापक साहित्य का व्यवसाय करते हैं वे अवसरवादी हैं। जो स्वयं ही ढुलमुल हैं वे पाठकों और छात्रों को भला क्या आत्मनिर्म्माण दे सकते हैं!

छात्रों के लिए पुस्तकें लिखनेवाले व्यवसायी लेखकों को अध्यापकों की ही रीति-नीति से प्रेरणा मिली है। ये अध्यापक ऐसे सर्वगुण सम्पन्न हैं कि बच्चों के लिए रीडरें लिखने से लेकर विश्वविद्यालयों के लिए पाठ्यपुस्तकें लिखने तक में कुशल हैं। आर्थिक लाभ का कोई अवसर वे चूकना नहीं चाहते। वेतन पर्य्याप्त हो तो भी उनका काम नहीं चलता। चाहे जिस तरह हो, उन्हें अतिरिक्त आय चाहिये। भ्रष्टाचारी कर्म्मचारियों और उनमें क्या अन्तर है!

इधर विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक अपने स्वार्थों का एकतन्त्र स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे अपने ही विभाग के अध्यापकों से कविता, कहानी, निबन्ध का संग्रह तय्यार कराते हैं। उनकी या अपनी पुस्तकें ही पाठ्यक्रम में रखते हैं। ठठेरे-ठठेरे बदलीअल के अनुसार विभिन्न विश्वविद्यालयों के अध्यापकों में भी पारस्परिक स्वार्थों का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। यह कैसी आर्थिक हदबन्दी है! इससे स्वावलम्बी लेखकों की स्थिति चिन्तनीय हो गयी है।

विश्वविद्यालयों से बाहर के लेखकों की पुस्तकें पाठ्यक्रम में

न रखने से छात्रों के मानसिक विकास का द्वार बन्द हो जायगा। केवल संग्रहों से काम नहीं चल सकता; विशिष्ट लेखकों की कृतियाँ भी भाषा, शैली, भाव और विचार की दृष्टि से पाठ्यक्रमों में लेना आवश्यक है।

विश्वविद्यालयों से उपाधि लेकर जो नवयुवक कार्य्यक्षेत्र में आते हैं वे भी अपने कर्त्तृत्व का कैसा परिचय देते हैं! राष्ट्रभाषा-प्रकाशक-सम्मेलन (काशी) की पुस्तक-प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए डा० जगन्नाथ शर्म्मा ने कहा था—"आये दिन पाठ्यपुस्तकों पर लिखे गये सस्ते नोटों की बाढ़ आ गयी है। इससे शिक्षा का स्तर गिर रहा है और उसका महान उद्देश्य संकटापन्न हो गया है। नवयुवकों के सामने जीविका का कठिन प्रश्न उपस्थित है। उन्हें किसी-न-किसी तरह इसे हल करने की चिन्ता बनी रहती है। इसीलिए ऐसे अनेक उपाधि-प्राप्त नवयुवक बराबर इसी टोह में रहते हैं कि इस वर्ष किस श्रेणी के लिए कौन-सी पुस्तक निर्द्धारित हुई है। इसका पता लगते ही झट वे एक नोट प्रस्तुत कर देते हैं और प्रकाशक भी उन्हें तुरत छाप कर बाजार में भेज देता है।...यह प्रवृत्ति ठोस साहित्य और शिक्षा के लिए घातक है। प्रकाशकों को केवल रुपयों की नहीं, राष्ट्र के हित की भी चिन्ता करनी चाहिये।"

यह तो आदर्शवाद की बात हुई। प्रश्न यह है कि आदर्श को व्यवहार में लाया कैसे जाय? जहाँ सभी बहती दरिया में पाँव पखार लेना चाहते हैं वहाँ आदर्श स्थापित कौन करेगा! यदि अध्यापक सुधर जायँ तो प्रकाशक भी सुधर जायँगे। प्रकाशक तो

बनिया है, अध्यापक युग-युग का ब्राह्मण; तप, त्याग और आदर्श की आशा उसी से की जाती है। यों भी इस व्यवसायी युग में राष्ट्रभाषा के सेवकों का दायित्व अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि वे संस्कृत और संस्कृति की उत्तराधिकारिणी हिन्दी के प्रतिनिधि हैं।

शिक्षा का स्तर नीचे गिरते देख कर शिक्षाधिकारी चिन्तित हो उठे हैं। न जाने कबसे शिक्षा-प्रणाली बदलने की बात कही जा रही है। कुछ मनीषी परीक्षाओं को समाप्त कर देने के पक्ष में हैं।—(परीक्षाएँ तो अपनी निरर्थकता से स्वयं समाप्तप्राय हैं)। प्रश्न केवल शिक्षा-प्रणाली बदलने का नहीं है, जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी तो अधःपतन हो रहा है। सबके ह्रास का कारण बाजारू अर्थशास्त्र है। *अर्थशास्त्र जब तक सामाजिक अथवा रचनात्मक* नहीं हो जाता, तब तक जीवन का कोई भी क्षेत्र सुसंस्कृत नहीं हो सकता। निर्लोभ के द्वारा ही हम अर्थशास्त्र को सात्त्विक बनाने में सहयोग दे सकते हैं, यही आदर्श का हार्दिक निर्देश है।

साहित्य, समाज और राष्ट्र की समृद्धि के नियम भिन्न-भिन्न नहीं हैं। जिस स्वाभाविक एवं मानवीय नियम से एक का आत्मोत्कर्ष होगा उसी से सभी विषयों और सभी देशों का। अतएव, मनुष्य को, साहित्य को, समाज को, सबको चैतन्य बनाने के लिए पहिले जड़ अर्थशास्त्र को ही चैतन्य बनाना होगा। इसका व्यावहारिक मार्ग वही है जिसे गान्धी जी अपने सर्वोदय में दिखा गये हैं।

इस समय संसार का अर्थशास्त्र या तो व्यक्तिवादी (पूँजीवादी)

है, या, वर्गवादी है। दोनों ही इस यन्त्र-युग में एक-से ही जड़वादी हैं, प्रमादी हैं। सन्' २०-२१ में गान्धी जी ने स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों, अदालतों, कौंसिलों और मशीनी वस्तुओं का बहिष्कार करके रचनात्मक कार्य्यों का जो श्रीगणेश किया था वह केवल बृटिश सरकार से असहयोग के लिए नहीं था, बल्कि आधुनिक युग की सभी यान्त्रिक विभीषिकाओं से मनुष्य को मुक्त कर उसके स्वाभाविक पुरुषार्थों को जगाने का अनुष्ठान था। दूसरे महायुद्ध के बाद सभी देशों में फैली हुई अशान्ति, अव्यवस्था और तरह-तरह के उपद्रवों से सूचित होता है कि कृत्रिम जीवन-प्रणाली के कल-पुर्जे अब चिटक-चिटक कर टूट रहे हैं। ऐसे विनाशोन्मुख वातावरण में गान्धी जी के असहयोग और रचनात्मक कार्य्यों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त अवसर आ गया है। विश्वशान्ति के लिए उनकी अहिंसा को सैद्धान्तिक रूप से संसार ने स्वीकार कर लिया है। अब उनके उन रचनात्मक कार्य्यों को भी अग्रसर करना चाहिये जिनसे अहिंसा को व्यावहारिक रूप मिलता है। रचनात्मक कार्य्यों के बिना साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सभी दिखावटी प्रयास निर्मूल हैं, 'सब्जबाग़' हैं।

काशी,
४।७।५५

हिन्दी का आन्दोलन

प्रारम्भ में ही कह दूँ, मैं उर्दू या हिन्दुस्तानी का पक्षपाती नहीं हूँ। हिन्दी मेरी राष्ट्रभाषा ही नहीं, मातृभाषा भी है। उसमें मैं सांस्कृतिक दृष्टि से आत्मीयता पाता हूँ।

संस्कृति और साम्प्रदायिकता दो भिन्न चीजें हैं। संस्कृति में जनसाधारण की सीधी सादी औद्योगिक साधना है, साम्प्रदायिकता में स्थिर स्वार्थों की आर्थिक प्रतिक्रिया है। हिन्दी तो निर्दोष है, किन्तु हिन्दी का आन्दोलन उर्दू के आन्दोलन की तरह ही साम्प्रदायिकता से ग्रस्त है। यह हिन्दू-मुस्लिम-विद्वेष का ही रूपान्तर है। अंग्रेजी युग के मशीनी अर्थशास्त्र को बिना बदले कोई भी देशी भाषा फल-फूल नहीं सकती। सन् '४१ में हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर जब उपाधि-प्रदान की वक्तृताएँ अंग्रेजी में दी गयीं तब अन्त में सभापति-पद से गांधी जी ने कहा था—मैं आशा करता था कि कोई भाई हिन्दी में बोलेंगे। हिन्दी में नहीं तो उर्दू, बँगला, गुजराती किसी भी देशी भाषा में। न हो संस्कृत में ही बोलते।

अंग्रेजी तो एक कृत्रिम अर्थशास्त्र (यान्त्रिक अर्थशास्त्र) का प्रतीक है। गान्धी जी का अभिप्राय यह था कि किसी भी देशी भाषा के व्यवहार करते रहने से हमें अनिवार्य्यतः उसे विकसित-प्रस्फुटित करने के लिए देश की खाद, पानी और मिट्टी के सम्पर्क में

आना होगा और अपनी भौगोलिक स्वाभाविकता के अनुरूप ही रचनात्मक कार्य्य करना होगा। परिणाम-स्वरूप अर्थशास्त्र का स्वरूप बदल जायगा। इसी रचनात्मक दृष्टि से गान्धी जी (पाकिस्तान के रूप में विदेशी कूटनीति को फलने-फूलने का अवसर न देने के लिए); भारत की शासन-सत्ता का हस्तान्तरण कांग्रेस के बजाय मुस्लिम लीग के हाथ में कर देने के लिए राजी थे। वे विकृत अर्थशास्त्र की विकृतियों के रूप में फैली हुई समस्याओं (भाषा, धर्म्म और राजनीति), को तरह देकर चलते थे। बुनियादी कार्य्यों की जड़ मजबूत हो जाने पर ये समस्याएँ स्वयं ही समाप्त हो जातीं। यदि असमय ही उनका बलिदान नहीं हो जाता तो उनका स्वप्न निष्फल नहीं होता।

कहते हैं, राष्ट्रभाषा की आवश्यकता एकता और सुबोधता के लिए है। सुबोधता की दृष्टि से हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि भारत के लिए ही नहीं, विश्व के लिए भी स्पृहणीय है। उसके पीछे जनता का तन-मन और जीवन है। उसी के द्वारा भाषा और लिपि का स्वरूप बना है। किन्तु भाषा-सम्बन्धी द्वन्द्व जनता द्वारा नहीं, नेताओं द्वारा उठाया गया है। जनता और नेताओं में शोषित और शोषक का अन्तर पड़ गया है। अपनी समस्याओं के मूलभूत कारणों से अनभिज्ञ जनता के नाम पर नेतागण नेतृत्व के लिए प्रतिद्वन्द्विता कर रहे हैं; चाहे वे किसी भी दल या किसी भी पार्टी के हों। गान्धी और विनोबा की तरह कितने लोग जनता के कदम से कदम मिला कर चल रहे हैं?

भाषा द्वारा एकता की बात बड़ी सुहावनी लगती है। किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है। सन्, ४८ में प्रकाशित 'धरातल' में मैंने कहा था—"एक ही भाषा बोलने वाले देशों में क्या वर्ग-द्वेष या वर्ग-द्वेष नहीं है?"

उस दिन (७ मार्च, १९५४), काशी नागरी प्रचारणी सभा की हीरक जयन्ती के अवसर पर 'राष्ट्रभाषा-सम्मेलन और विचार-गोष्ठी' के सभापति, बिहार के राज्यपाल, श्री रंगनाथ दिवाकर ने भी इस बुनियादी बात की ओर ध्यान दिलाया था। हिन्दी का गुणगान करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था—"केवल एक भाषा से एकता या राष्ट्रीयता स्थापित हो सकती है, इस बात में मेरा विश्वास नहीं है। यदि अन्य कारणों से एक राष्ट्र है और एक राष्ट्र की भावना स्थापित हो गयी है, तो एक भाषा अवश्य सहायक हो सकती है। लेकिन केवल एक भाषा, एक धर्म्म, एक वंश एकता का एकमात्र साधन नहीं हो सकता। क्या यादवों का कुल, वंश, धर्म, भाषा आदि एक नहीं थे। फिर भी उनमें जितना झगड़ा हुआ उतना किन्हीं दूसरे लोगों में आपस में नहीं हुआ। क्या मध्य-पूर्व राज्यों का धर्म्म इस्लाम एक नहीं है? लेकिन उनमें एकता कहाँ है! एक भाषा होने पर भी क्या अमेरिका इंग्लैंड के साथ नहीं झगड़ता रहा और उससे उसने अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा? क्या यरोप में एक ही धर्म्म क्रिश्चिएनिटी प्रचलित नहीं है? लेकिन वहाँ एकता कहाँ है? यह सब कहने का मेरा उद्देश्य यह है कि सच्ची एकता स्थापित करने के लिये हमें एक भाषा आदि चीजों से परे जाना आवश्यक है।"

एकता, स्वतन्त्रता, मानवता, इन सबको शाब्दिक आदर्शों की अपेक्षा व्यावहारिक मार्ग मिलना चाहिये। राज्यपाल दिवाकरजी ने अपने उसी भाषण में एक स्थान पर ठीक कहा है—"आर्थिक विषयों में गान्धीजी से पुरस्कृत स्वदेशी का जो तत्व है उसका उपयोग इस राष्ट्रभाषा के विकास में भी लागू हो सकता है।"

स्वदेशी का वह तत्त्व क्या है ?—प्रकृति के सम्पर्क में लोक-जीवन का स्वाभाविक स्वावलम्बन। यदि स्वदेशी केवल आधुनिक राष्ट्रीयता का पर्य्याय बन जाय तो साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता में अन्तर ही क्या रह जाय? आज वह समय नहीं है जब कि प्रत्येक राष्ट्र अपने-अपने संकुचित स्वार्थों के घेरे में सीमित रह सके। सारे संसार का अर्थशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। यातायात और आयात-निर्यात के व्यापारिक साधनों ने सभी देशों के भाग्य को एक दूसरे से बाँध दिया है। एक देश के बाजार-दर का प्रभाव दूसरे देश पर पड़ता है। ऐसी स्थिति में संकुचित राष्ट्रीयता अपने आप में निर्भर नहीं रह सकती। किन्तु दुर्भाग्यवश पूँजीवादी वातावरण के कारण अब भी राजनीति में राष्ट्रीयता बनी हुई है और सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों का शोषण करके अपने देश की जनता को सन्तुष्ट करना चाहते हैं। फिर भी सन्तुष्ट कहाँ कर पाते हैं? पूँजीवादी देशों की बेकारी, भुखमरी, हड़ताल और उपद्रव से वहाँ की वस्तु-स्थिति का परिचय मिल जाता है। वस्तुतः जनता का कष्ट दूर करने के लिए राष्ट्रीय प्रयास नहीं किया जाता, वह तो केवल नेतृत्व और व्यापारिक वर्ग को सुरक्षित रखने का पुराना तरीका है।

यह तरीका कब तक चल सकेगा! पुरानी पीढ़ी के मुकाबिले नयी पीढ़ी की राजनीति का नारा वायुमण्डल में गूँज रहा है। सभी देशों में कम्युनिज्म का खतरा दिखायी देने लगा है। क्या उसे रोकने के लिए तीसरे महायुद्ध की तैयारी की जा रही है?

व्यक्तिगत रूप से मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ। किन्तु यदि पूँजीवादी देशों का साधन और साध्य नहीं बदलता तो उनके मुकाबिले कम्युनिज्म (समष्टिवाद) बुरा क्यों है!

इस समय पूँजीवादी देश दो साधनों को लेकर चल रहे हैं—(१) मुद्रागत अर्थशास्त्र, (२) वैज्ञानिक आविष्कार। दोनों ही यान्त्रिक साधन हैं। कम्युनिज्म भी इन्हीं साधनों को अपनाता है। उसका भी साध्य ऐहिक सुख है, किन्तु पूँजीवाद की अपेक्षा उसकी विशेषता यह है कि सुख के साधनों को सीमित वर्ग में संकुचित नहीं करता। यह दूसरी बात है कि उसके द्वारा सबका कल्याण (सर्वोदय) हो सकता है या नहीं। किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में भी सर्वोदय कहाँ हो रहा है! कम्युनिज्म का विचारक पूँजीवाद नहीं, गान्धीवाद हो सकता है। किन्तु गान्धी दूसरों का विचार करने के बजाय स्वयं काम करता था।

गान्धी की दृष्टि से हम देखें कि संसार की अशान्ति, अव्यवस्था और स्वार्थपरायणता का कारण क्या है? एक शब्द में कारण मुद्रागत अर्थशास्त्र है जो मनुष्य को उसके नैसर्गिक उद्योगों से अलग करके अनिवार्य्य रूप से शोषक और शोषित बना देता है। जैसा ही कृत्रिम यह अर्थशास्त्र है वैसा ही उसका राजनीतिक परिणाम

(अस्त्र-शस्त्र) और वैज्ञानिक आविष्कार (यान्त्रिक सृष्टि) है। साधन के अनुरूप ही साध्य बनता है।

अणुबम के भीषण से भीषण आविष्कारों की विभीषिका से इस समय सारा संसार आतङ्कित है। त्रस्त वायुमण्डल में शान्ति-शान्ति की आवाज सुनायी देने लगी है। यदि अणुबमों को नष्ट कर दिया जाय तो क्या संसार में शान्ति हो जायगी? तीसरा महायुद्ध रुक जायगा?, नहीं। क्यों? इसका उत्तर है मुद्रागत अर्थशास्त्र। यह अर्थशास्त्र किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में अहिंसक नहीं हो सकता, (चाहे वह कम्यूनिज्म ही क्यों न हो)। धातु के निर्जीव सिक्कों से जीवित मनुष्य के आहार-विहार, आदान-प्रदान और रहन-सहन को परिचालित कर उसे सचेतन प्राणी नहीं बनाया जा सकता। जड़ धातुओं के माध्यम से मनुष्य भी वैसा ही जड़ हो जायगा। आज मनुष्य-मनुष्य के बीच क्या कोई सजीव सम्बन्ध शेष रह गया है? कूटनीतिक राष्ट्रों की तरह व्यक्तियों में भी ऊपर से चाहे जितनी घनिष्ठता, मित्रता, अभिन्नता दीख पड़ती हो, किन्तु आर्थिक व्यवहार में प्रत्येक के भीतर एक-दूसरे के प्रति सन्देह और अविश्वास है। ऐसे ही वातावरण में हम साहित्य, कला, संस्कृति, भाषा और तरह-तरह के आदर्शों की बातें करते हैं! यह कैसा छल-छद्म है!

दूसरे महायुद्ध के बाद नजरबन्दी से छूटने पर गान्धीजी ने अर्थशास्त्र की दिशा में लाक्षणिक रूप से सचमुच एक क्रान्तिकारी कदम उठाया था। ग्रामोद्योगों के द्वारा उन्होंने यन्त्र-युग का बहिष्कार किया ही था, अब खादी पर दो पैसे का सूत माँग कर मुद्रागत अर्थ-

शास्त्र को भी समाप्त करने का श्रीगणेश किया। यह सूत खुद का काता हुआ हो या घर के किसी आदमी का। किन्तु इतने से ही तो प्रचलित अर्थशास्त्र की समाप्ति नहीं हो जाती। गान्धी जी का प्रयास यह था कि जैसे मशीनों से देश दस्तकारी की ओर लौट आया था वैसे ही रुपये-पैसे की दूकानदारी से अपने स्वाभाविक स्वावलम्बन की ओर लौट पड़े। इसी तरह धीरे-धीरे वे वस्त्र के बाद कृषि को भी अर्थशास्त्र की दृष्टि से मानवीय बना देना चाहते थे। उनके 'स्वदेशी' का अभिप्राय राष्ट्रीयता नहीं, नैसर्गिकता था। उसमें प्रकृति, मनुष्य और उसकी चेतना का अन्तर्मिलन था। इस रूप में यदि सभी देशों में स्वदेशी की भावना आ जाय तो उनका परस्पर स्वार्थ-संघर्ष नहीं हो सकता। संघर्ष वहीं होता है जहाँ क्रेता-विक्रेता तथा उत्पादक और उपभोक्ता की भिन्न श्रेणियाँ बन जाती हैं। असहयोग-आन्दोलन के दिनों में विदेशी कपड़ों का बहिष्कार और स्वदेशी का आग्रह जीवन की दो भिन्न प्रणालियों का अहिंसात्मक द्वन्द्व था। जिस दृष्टिकोण से गान्धी जी स्वदेशी को प्रश्रय देते थे, यदि उसी दृष्टि-कोण से अन्य देशों में भी उद्योग किये जाते तो वहाँ की वस्तुओं को अपनाने में उन्हें एतराज नहीं होता। किन्तु स्वदेशी की सतह पर आकर आयात-निर्यात की गुंजाइश ही नहीं रह जाती क्योंकि सभी देश अपनी-अपनी मर्य्यादित आवश्यकता के लिए ही उत्पादन करते, न कि व्यापार के लिए। हाँ, अकाल-सुकाल में एक-दूसरे को सहयोग देना, दूसरी बात है। वह तो विश्वमानव का धर्म्म है।

हम कह सकते हैं कि गान्धी जी की अर्थव्यवस्था मध्ययुगीन थी,

किन्तु उस संस्कृति, कला, भाषा, साहित्य, समाज का विकास मध्ययुग में ही हुआ था जिसकी प्रशंसा करते आज भी लोग अघाते नहीं हैं। आज जिसे हम निर्जीव परम्परा के रूप में कुरूप और वीभत्स देख कर मुँह बिचका देते हैं वह तो यन्त्र-युग की विकृतियों का परिणाम है।

ठीक अर्थ में गान्धी जी को मध्ययुगीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मुद्रागत अर्थशास्त्र के कारण मध्ययुग में भी युद्ध होते थे। आज जैसे पूंजीवादी वातावरण में कम्युनिज्म आधुनिक युग का परिशोधन करना चाहता है वैसे ही गान्धी जी मध्ययुग के सामन्ती वातावरण का उन्मूलन करना चाहते थे। वे उस युग के ग्रामीण अर्थशास्त्र की ओर थे। चाहे मध्ययुग हो चाहे आधुनिक युग, सभी युगों की विकृतियों का निराकरण वे अहिंसात्मक अर्थशास्त्र से करना चाहते थे। यदि उनके रचनात्मक कार्य्यों को अपना लिया जाता तो उस युग के आदर्शों का मुख और भी उज्ज्वल हो उठता, वह निर्जीव रूढ़ियों में घिनौना नहीं लगता।

देश में जब कि विदेशी शासन के फल-स्वरूप अनेक फालतू समस्याएँ फैली हुई थीं (जैसे हिन्दू-मुस्लिम, हिन्दी-उर्दू, सवर्ण-असवर्ण), तब गान्धी जी ने मूलभूत समस्या (आर्थिक समस्या) को ही सात्विक स्वरूप देने का प्रयत्न किया। अन्य समस्याएँ केवल आर्थिक विकृतियों से ही उत्पन्न हुई हैं। अर्थ-व्यवस्था के प्रकृतिस्थ हो जाने पर बाकी समस्याएँ स्वयं जर्ज्जरित होकर पतझड़ की पत्ती की तरह झड़ जायँगी।

यदि संसार की अर्थ-व्यवस्था व्यापारिक ही बनी रही तो उससे

पूँजीवाद नहीं समाप्त हो सकता। मान लीजिये, हिन्दी राष्ट्रभाषा ही नहीं, विश्वभाषा बन जाय (अवश्य बन सकती है), तो पूँजीवादी वातावरण में उन्हीं के स्वार्थों को विस्तृत क्षेत्र मिल जायगा जो अभी छोटे-से दायरे में पाठ्यपुस्तकों का व्यापार करते हैं और संस्थाओं में अपने-अपने प्रभुत्व के लिए गुटबन्दी करते हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रभाषा का प्रचार तो सचमुच 'हिन्दी का साम्राज्यवाद' हो जायगा। यदि अर्थशास्त्र का स्वरूप नहीं बदलता तो हिन्दी का साम्राज्यवाद भी वैसा ही लोक-कल्याण-रहित होगा जैसा भारत को मिला हुआ स्वराज्य हो गया है।

रीतिकाल के कवियों को दरबारी कहा जाता है। क्या मुगलकाल और ब्रिटिश काल के बाद इस स्वराज्य के युग में दरबारीपन खतम हो गया है? मनुष्य के व्यक्तित्त्व का विकास हो सका है? जब तक 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ती' का बोलबाला है तब तक दरबारीपन बना रहेगा। हाँ, ब्रिटिश काल में असहयोग-आन्दोलन के प्रभाव से देश में एक आत्मचेतना आ गयी थी। सरकारी कर्म्मचारियों को छोड़कर शेष जनता ने शासन को मस्तक झुकाना बन्द कर दिया था। साहित्यिकों ने भी अपने राष्ट्रीय काव्यों द्वारा इस चेतना का साथ दिया था। अब जनता, नेता और साहित्यकार सभी हतचेतन हो गये हैं। इसीलिए मनुष्यत्त्व की नहीं, स्वार्थ और सत्ता की पूजा हो रही है। इसका एकाध उदाहरण साहित्यिक क्षेत्र में देखिये—

मार्च १९५४ की 'नई धारा' अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में लिखती है—"काशी नागरी प्रचारिणी सभा की हीरक जयन्ती,

उसके संयोजकों की योजना के अनुसार बड़ी धूमधाम से मनाई गई। राष्ट्रपति आये। चीफ मिनिस्टरों और मिनिस्टरों की पल्टन पहुँची। विरुदावली सुनाई गई। बड़े-बड़े दान मिले—लाख, हजार का बाजार लगा। जयन्ती के संयोजक यही चाहते थे, उनकी मनोकामना पूरी हुई। इसीलिए उन्हें जयन्ती के समय में भी उलटफेर करना पड़ा था। क्या करें बेचारे? रुपयों के बिना संस्थाओं के काम चल नहीं पाते। सामन्ती राजे रहे नहीं कि जो ढल गये तो अनाम लाखों लुटा दिये। अब उनकी गद्दी पर जो बैठे हैं वे गिन-गिन कर देते हैं और देने के पहले गिन-गिन कर लेते हैं। लेते हैं स्वागत के रूप में, मालाओं के रूप में, अभिनन्दन के रूप में, जय-जयकार के रूप में।"

जिनकी हम जय-जयकार करते हैं स्वयं उनके द्वारा सञ्चालित संस्था का क्या हाल है! दिल्ली में सद्यःस्थापित 'साहित्य अकादमी' को लक्ष्य कर मार्च १९५४ की 'नई धारा' लिखती है—"इस एकेडमी के सदस्यों का चुनाव कैसे हुआ है, किसने किया है? चुनाव किया है भारतीय सरकार या प्रादेशिक सरकारों ने या उनके बगलबच्चे विश्वविद्यालयों ने। अतः यदि सरकारपरस्त साहित्यकारों और जी-हुजूरी प्रोफेसरों की भरमार वहाँ हो तो आपको आश्चर्य क्यों हो! इनमें कुछ अच्छे लोग भी आ गये, आश्चर्य की बात यह है। हाँ, चुनाव कहना भी गलत होगा, चुनाव कहाँ हुआ है, सरकारों या उपकुलपतियों ने अपनी रुचि के अनुसार नामजद किया है।"

यह है गैरसरकारी और सरकारी संस्था की स्थिति। कोई संस्था

हो या सरकार, उसका निम्मर्णि एक ऐसे वैधानिक ढाँचे (मशीनी ढाँचे) से होता है जिसमें किसी सचेतन व्यक्तित्त्व का समावेश नहीं हो सकता---न चुनाव द्वारा, न स्वेच्छा से मनोनीत करके। ऐसे ढाँचे में यन्त्रनिर्म्मित और यन्त्रचालित जड़ पुतलों की तरह ही मनुष्य एक निश्चेतन सृष्टि बन जाता है। संसार की किसी भी संस्था, किसी भी सरकार में स्पन्दनशील मनुष्य की साधना, सचाई और कर्म्मण्यता को स्थान नहीं मिल सकता। लोहे के तंग जूते में पुरानी चीनी औरतों के पैर की तरह किसी भी मशीनी ढाँचे में मनुष्य का स्वाभाविक विकास नहीं हो सकता। आह, कैसे सङ्कीर्ण वातावरण में युग-युग से मनुष्य मानसिक 'हाराकीरी' करता आ रहा है---वह शरीर से जीवित और मन से जीवन्मृत है। संसार मुर्दों का टीला बना हुआ है, उसी की नींव पर सरकार, संस्था, समाज और साहित्य का आडम्बर खड़ा है!

कसे-कसाये वैधानिक ढाँचे से मुक्त करके मनुष्य के विस्तृत विकास के लिए प्रशस्त क्षेत्र प्रस्तुत करने का एक ही मार्ग है---अराजकता। अराजकता---उच्छृङ्खलता अथवा तोड़-फोड़ या विध्वंस का नाम नहीं है। वह तो बँधी-बँधायी पटरियों को छोड़ कर मानव-स्वावलम्बन का नैसर्गिक पथ है---पैदल रास्ते की तरह। जिन निर्जीव प्रणालियों से मानव-समुदाय का सञ्चालन होता है (चाहे वह शासन हो या टकसाल), हमें उनसे अलग मार्ग पकड़ना चाहिये। किसी भी राज्य की शक्ति उसका जड़ अर्थशास्त्र है। यदि हम उस अर्थशास्त्र से ही अपने स्वार्थों की पूर्त्ति करते हैं,

आत्मविकास के लिए कोई मानवीय रचनात्मक कार्य्य नहीं करते तो यह आत्मछलना और लोकप्रवञ्चना मात्र है। अराजकता के लिए, न्याय और मानवता के लिए, हमें निर्जीव मुद्रागत अर्थशास्त्र से सजीव-श्रमशास्त्र की ओर अभियान करना है। इसका पथ-प्रदर्शन टाल्स्टाय और गान्धी कर गये हैं। वे ही हमारे आदर्श अराजकतावादी हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद जैसे सभी देशों में छोटे-मोटे अनेक आन्दोलन उठे और बाद में समाप्त हो गये, वैसे ही दूसरे महायुद्ध के पहले के आन्दोलन भी उठे और समाप्त हो गये। अब नये-नये आन्दोलन चल रहे हैं। हमें अपने उत्साह को इन सीमित आन्दोलनों में ही संकीर्ण नहीं कर देना चाहिये। भविष्य के विश्वव्यापी परिवर्त्तन का भी ध्यान रखना चाहिये। वास्तव में इस समय सभी देशों में (चाहे वे स्वाधीन हों या पराधीन) एक ही आन्दोलन की आवश्यकता है---वह है स्वदेशी (ग्रामोद्योगों) का आन्दोलन। बाकी आन्दोलन 'सूत न कपास, जुलाहे से लट्ठम-लट्ठा' हैं।

सच तो यह है कि थोथे आन्दोलनों की नहीं, रचनात्मक कार्य्यों की आवश्यकता है। उन्हीं से आन्दोलनों को शक्ति मिलती है।

काशी,

२७-६-५४

जनक्रान्ति का आह्वान

आज का मनुष्य बर्बर युग के मनुष्य से भी गया बीता है, क्योंकि आदिम मानव में भी संवेदना थी, अनुभूति थी; तभी तो कालान्तर में उसका गार्हस्थिक और सामाजिक विकास हो सका।

आज का मनुष्य अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं है, वह निस्पन्द है, जीवन-शून्य है। इसका कारण क्या है?

मनुष्य का स्थान सिक्का और मशीन ने ले लिया है। मनुष्य उन्हीं के माध्यम से हिलता-डुलता है, उसका अपना अस्तित्व निर्मूल हो गया है।

सिक्का और मशीन तो विवेक-शून्य हैं। उनसे मनुष्य की चेतना और क्रिया का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता, न अन्तःकरण जाग सकता है और न स्नेह-सहानुभूति-संवेदना का समाज ही बन सकता है।

यन्त्र-युग में हम देखते हैं: मनुष्य व्यक्ति भी नहीं रह गया है, समाज भी नहीं रह गया है। जो निश्चेतन है उसका व्यक्तित्व क्या, सामाजिक अस्तित्व क्या! वह अपने भीतर नहीं, जड़ पदार्थ की तरह कल-कारखानों में निर्म्मित हो रहा है। उसकी जिन्दगी फैक्टरी बन गयी है।

मनुष्य जब तक अपने पुरुषार्थ में आत्मस्थ था, तब तक आधि-व्याधि में भी अमृतपुत्र था। अब यन्त्रस्थ होकर जीवन्मृत हो गया है। अन्न के अभाव में जैसे जठराग्नि की ज्वाला शरीर को भस्म करती है, वैसे ही जीवनी शक्ति के अभाव में कुण्ठित प्रवृत्तियों की विद्वेष-ज्वाला मनुष्य को भस्म कर रही है।

यन्त्रों तथा अन्यान्य वैज्ञानिक आविष्कारों से अब प्रकृति भी निर्जीव होती जा रही है। ऋतुओं में व्यतिक्रम हो गया है। प्रकृति से न तो मनुष्य को अब पहिले-जैसा सहयोग मिल पाता है और न मनुष्य से उसके आश्रित पशुओं को।

चरागाह के अभाव में हमारी संस्कृति की माता गो भी हिंसक हो गयी है। थोड़ी-सी घास फेंक कर देखिये, कितनी गोवें जुट जाती हैं। एक गाय दूसरी गाय को ही नहीं बल्कि छोटे-छोटे बछड़ों को भी अपनी सींग से मार कर भगा कर सब घास खुद खा जाना चाहती है। उसे भी क्या मनुष्य की हिंसा की छूत लग गयी है?

एक प्राणी दूसरे प्राणी को मार कर कब तक खाता-जीता रहेगा? इस तामसिक प्रवृत्ति को बदलना होगा। कैसे? —

युग-परिवर्त्तन के दो तरीके हैं। पहिला तरीका विध्वंसात्मक है और वह है तृतीय युद्ध। किन्तु युद्ध किसे पसन्द है! दूसरा तरीका रचनात्मक है और वह है जनक्रान्ति।

जनक्रान्ति उस इन्कलाब का नाम नहीं है जिसका नारा हवा में सुनायी देता है। वह तो सिक्कों और मशीनों की ही जीवन-

प्रणाली का अभिनवीकरण करना चाहता है। सिक्कों और मशीनों का राष्ट्रीकरण अथवा समाजीकरण कर देने से भी काम नहीं चल सकता। कृत्रिम साधन चाहे जिस किसी भी दायरे में हों, वे सम्पूर्ण जनता का कल्याण नहीं कर सकते। उनसे सर्वोदय नहीं हो सकता। किसी-न-किसीका शोषण होता रहेगा।

इन्क़लाब के लिए जीवन के अब तक के जड़ अर्थशास्त्र में ही आमूल परिवर्त्तन करना होगा। जैसा कि खादी के खुद कातने-बुनने की प्रेरणा देते हुए गान्धी जी ने कहा था—इससे मनुष्य अपनी टकसाल स्वयं बन जाता है; इसी दृष्टि से मनुष्य के स्वावलम्बी श्रम को ही उसका धन और उत्पादन बना देना है। सच तो यह है कि गान्धीवादी प्रयत्नों (ग्रामोद्योगों) से अर्थ और उद्योग एकमेव हो जाते हैं, दोनों सजीव मनुष्य बन जाते हैं।

इन्क़लाब तो राजनीतिक महत्त्वाकांक्षियों और उनके अनुयायियों का नारा है। जनता ने अभी तक अपनी कोई आवाज नहीं उठायी, वह तो आत्मविस्मृत है, अपनी शक्ति से अपरिचित है, इसीलिए नेताओं द्वारा परिचालित आन्दोलनों को ही प्रतिध्वनित करती है।

राजनीतिक महत्त्वाकांक्षियों का नेतृत्व तभी तक है जब तक सिक्कों और मशीनों का बोलबाला है। जिस दिन जनता सिक्कों और मशीनों की परवशता छोड़ कर स्वावलम्बन के पथ पर चल पड़ेगी, उसी दिन सचमुच जनक्रान्ति हो जायगी।.....

हमें केवल मनुष्य का ही भला नहीं करना है। मनुष्य ही सम्पूर्ण सृष्टि नहीं है। वह तो सृष्टि का अंश मात्र है। उसका हिताहित सृष्टि के अन्य प्राकृतिक अवयवों से जुड़ा हुआ है। इसीलिए, वृक्षों के कट जाने से बादल नहीं बनता, नदियों के सूख जाने से खेती नहीं पनपती, पशु और मनुष्य दोनों भूखों मरने लगते हैं।

चराचर प्रकृति से सम्बद्ध होकर ही मनुष्य जी सकता है। सबको जिला कर जीना, यही अहिंसा है। अहिंसा धार्म्मिक दृष्टि से ही नहीं, आर्थिक दृष्टि से भी आवश्यक है, अनिवार्य्य है।

यदि सारी सृष्टि के साथ एकात्मता अथवा पारस्परिक अनुप्राणता का नाम जीवन है तो केवल मनुष्य का ही नहीं, समग्र सृष्टि का सर्वोदय करना होगा। यह तभी सम्भव है जब अर्थ और उद्योग को प्रकृति से सजीव किया जाय। साध्य के अनुरूप ही साधन होना चाहिये।

क्या सिक्कों और मशीनों से अखिल सृष्टि का सर्वोदय हो सकता है?

सिक्कों और मशीनों से जब मनुष्य भी जीवन नहीं पा रहा है तब शेष सृष्टि कैसे जीवन पा सकती है! इन कृत्रिम साधनों से सबकी आजीविका की समस्या नहीं हल हो सकती। किसी भी यान्त्रिक व्यवस्था में (चाहे वह समाजवाद हो, चाहे पूँजीवाद), आर्थिक वैषम्य बना रहेगा।

सिक्कों और मशीनों का ही यह दुष्परिणाम है कि आज सारे संसार में बेकारी, बेईमानी, चोरी, डाका, सीनाजोरी, बढ़ती जा रही है।

आये दिन हड़तालें हो रही हैं। तरह-तरह के स्वार्थों के दल संगठित हो रहे हैं। एक दल को दूसरे दल के हानि-लाभ से मतलब नहीं। अपने लिए अधिक से अधिक सुविधा पा जाना ही इन परस्पर विभक्त संगठनों का उद्देश्य है। इनमें कोई सामाजिक चेतना नहीं है, कोई मानवी संवेदना नहीं है। ऐसे स्वार्थी संगठनों में व्यक्तिगत क्षुद्रता के कारण दलगत एकता भी छिन्न-भिन्न हो जाती है।

राष्ट्रीयता के गढ़ इंग्लैण्ड में भी बड़ी-बड़ी हड़तालें होने लगी हैं। जो कभी दावा करता था कि बाहरी आक्रमणकारियों के सामने सारा देश एक है, वह भी वर्गगत स्वार्थों में कितना विभक्त है! वहाँ की राष्ट्रीयता क्या देश-प्रेम के लिए थी? नहीं, राष्ट्रीयता का अभिप्राय तो यह था कि अपने देश को हमीं लूट-खांय, दूसरे लोग दूर रहें। साम्प्रदायिकता की जिस क्षुद्र मनोवृत्ति की निन्दा की जाती है, उसी की तरह राष्ट्रीयता और वर्गसंकीर्णता भी निन्द्य है, हेय है।

इन हड़तालों का अन्त कहाँ है! सरकारें इनकी माँगें कहाँ तक पूरी कर सकेंगी! आपस की खींच-तान से जिन्दगी ज्यों-ज्यों महँगी होती जायगी, त्यों-त्यों माँगें भी बढ़ती जायँगी। सरकारें किसी भी तरह माँगें पूरी नहीं कर सकेंगी—न कर्ज लेकर, न अमरीका और रूस से सहायता लेकर, न मुद्रास्फीत कर, न टैक्स बढ़ा कर। बात यह है कि पृथ्वी की स्वाभाविक शक्ति सिक्कों और मशीनों की अस्वाभाविक शक्ति का साथ नहीं दे सकती। चैतन्य शक्ति और

जड़शक्ति के असन्तुलन के कारण ही ये तरह-तरह की आर्थिक असंगतियां विषम-व्याधियों के रूप में फूट रही हैं।

कृत्रिम साधनों के कारण मनुष्य का आर्थिक अधःपतन ही नहीं हो रहा है, अपितु सांस्कृतिक ह्रास भी हो रहा है। छात्रों की अनुशासनहीनता इसी का प्रमाण है। हम तो समझते थे, हमारा ही देश सभ्यता की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है, किन्तु सभ्यता (!) के आदर्श अमेरिका के छात्रों में भी अनुशासनहीनता आ गयी है। शिकागो का समाचार है—

"अमेरिका के अनेक प्रारम्भिक स्कूलों में अनुशासन टूट गया है। यह बात राष्ट्रीय शिक्षा संघ की रिपोर्ट में बतायी गयी है। उसमें कहा गया है कि छात्र कक्षाओं में बहुत बेचैन रहते हैं। प्रायः वे आज्ञापालन नहीं करते और तनातनी के लक्षण प्रकट करते हैं। अध्यापकों ने इसका कारण कक्षाओं में स्थान की कमी, टेलिविजन और मनोरञ्जन-केन्द्रों की कमी, माँ-बाप की ढिलाई बतलाया है।"

—वाह, क्या अच्छा कारण बतलाया गया है! रोग ही उपचार बन गया है। टेलिविजन और मनोरञ्जन केन्द्रों से आदमी तमाशबीन बन सकता है, सामाजिक मनुष्य नहीं। इस युग में लड़कों पर माँ-बाप के नियन्त्रण का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि माँ-बाप भी उसी निर्जीव वातावरण की उपज हैं जिस वातावरण की उपज लड़के।......

हड़तालों, अनुशासनहीनता अथवा तरह-तरह की दायित्वशून्यता, इन सभी विडम्बनाओं का एकमात्र कारण मनुष्य का यान्त्रिक जीवन

है। उसका तन-मन-मस्तिष्क यन्त्रचालित है, स्वतः चालित नहीं। जैसा कि 'समन्वय अथवा एकान्वय' शीर्षक लेख में कहा गया है—"यान्त्रिक वाहनों की तरह मनुष्य भी बँधी हुई सीमाओं और बँधी हुई पटरियों पर दौड़ने लगा है। उसमें मनोरथ की मनोरमता नहीं है।"

सारा संसार आज एक ही यन्त्र-युग से गुजर रहा है, अतएव सभी देशों में एक-सी ही निश्चेतन हलचलें चल रही हैं।

मनुष्य अपनी आत्मचेतना से विच्छिन्न होकर वृन्तच्युत पत्तों की तरह हवा में फड़फड़ा रहा है। वह विस्थापित है। उसे फिर से आत्मस्थ, स्वस्थ, प्रकृतिस्थ बनाना चाहिये। कैसे?—मनुष्य को ऐसा रचनात्मक कार्य्यक्रम दिया जाय जिससे उसकी चेतना और क्रिया, प्राण और स्पन्दन की तरह अभिन्न हो जाय।

सिक्कों और मशीनों के जड़ व्यवधान से मनुष्य की चेतना और क्रिया में ही नहीं, बल्कि मनुष्य-मनुष्य के बीच में भी बिलगाव आ गया है। जहाँ सिक्के के लिए ही संगठन होता है, वहाँ मशीनों के कल-पुर्जों की तरह ही लोग जुड़ते हैं और फिर उन्हीं की तरह टूट-फूट कर अलग हो जाते हैं।

मनुष्य को मनुष्य का विश्वास नहीं रह गया है। निर्जीव सिक्का ही विश्वसनीय हो गया है। मनुष्य का हिलना-मिलना लोकाचार मात्र रह गया है। सन्देह और अविश्वास के इस कृत्रिम वातावरण में स्नेह और सहयोग का सुहृद समाज कैसे बन सकता है!

प्रगतिवादी विचारों के लोग मध्ययुग के सामन्तवाद की भर्त्सना करते हैं। लेकिन सचाई यह है कि सामन्तवाद, पूँजीवाद, यन्त्रवाद, ये सभी सिक्कों की तरह ही विपत्ति हैं। मध्ययुग से आधुनिक युग में आकर मनुष्य ने यह कैसी उन्नति की कि वह सिक्कों और मशीनों का मुखापेक्षी हो गया। उसका अपना रुख-मुख कुछ नहीं रह गया। प्रत्येक व्यक्ति आत्मछलना कर रहा है। वह युगों की विकृतियों का व्यंग्य बन गया है।

आवश्यकता थी सिक्कों को सामन्तवाद के साथ ही समाप्त कर मध्ययुग के जन-स्वालम्बन और सामाजिक जीवन को उसके स्वाभाविक तरीके से अग्रसर करने की। लोकजीवन का क्रमिक विकास रुक जाने के कारण ही आज चारों ओर गत्यवरोध दिखायी देता है।...

आर्थिक दृष्टि से अब मशीनों का विरोध होने लगा है, किन्तु सिक्कों का (मुद्रागत कृत्रिम अर्थशास्त्र) का विरोध अभी सुनायी नहीं देता, वह स्वगत वाणी की तरह प्रायः नीरव है।

मशीनों का विरोध इसलिए किया जाता है कि उससे बेकारी बढ़ती है। यद्यपि विरोध का यह कारण पर्याप्त नहीं है, तथापि किसी भी कारण से कृत्रिमता से स्वाभाविकता की ओर अभियान शुभ ही होगा। इसी दृष्टि से सिक्कों का भी विरोध होना चाहिये।

बेकारी दूर कर हमें मनुष्य को रोजी ही नहीं देनी है, बल्कि जीवन और जीविका को कलात्मक और सात्त्विक भी बनाना है। मनुष्य उदरम्भरि पशु नहीं है, भावुक और प्रज्ञावान प्राणी है। भाव और प्रज्ञा से पशु भी देवकोटि में आ जाता है। जीवन और

जीविका द्वारा मनुष्य को अपना यही क्रमिक विकास करना है। सिक्कों और मशीनों से मनुष्य न पशु ही रह जाता है, न मनुष्य, न देवता, न अन्तर्य्यामी ईश्वर; वह जड़ धातु हो जाता है।

मशीनों की व्यर्थता की ओर ग्रामोद्योगियों का ध्यान गया, अब सिक्कों की व्यर्थता की ओर यन्त्रोद्योगियों का ध्यान गया है। चीन के मन्त्रिमण्डल ने यह घोषणा की है कि देश-भर में सरकारी कर्म्मचारियों को वेतन सिक्कों के रूप में नहीं, बल्कि भोजन, वस्त्र, घर और अन्य आवश्यक चीजों के रूप में मिलेगा।

सिक्कों की व्यर्थता प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में और दूसरे महायुद्ध के कुछ पहिले चीन में स्पष्ट हो गयी थी। जर्मनी में नापित हजामत बनाने के एवज में अंगीठी सुलगाने के लिए कोयला माँगते थे। चीन में मुद्रा का इतना अवमूल्यन हो गया था कि छोटी-छोटी चीजों के लिए भी लोग बोरियों में प्रामेसरी नोट भर-भर कर ले जाते थे। वे गिने नहीं, तौले जाते थे! आगे-पीछे क्या सारे संसार के मुद्रागत कृत्रिम अर्थशास्त्र की ऐसी ही डाँवाँडोल स्थिति नहीं हो जायगी?

मुद्रागत अर्थशास्त्र तो कभी-न-कभी अपनी निर्जीवता के कारण ही लड़खड़ा जाता। मशीनों ने अपने जोरदार धक्के से उसे बहुत जल्द अल्टिमेटम दे दिया। जड़ ही जड़ का काल हो गया।

हमारे देश में लोग अभी मजदूरी और नौकरी की ही भाषा में सोचते हैं और तामसिक आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। हड़तालों द्वारा

मजदूर अपनी मजदूरी बढ़वाना और नौकरी पेशा के लोग अपनी तनख्वाह बढ़वाना चाहते हैं। बेकारों के नेता कहते हैं—काम दो या बेकारी का भत्ता दो! यह पश्चिम के औद्योगिक देशों की-सी घिसी-घिसायी आवाज है।

सभी देशों की जनता को अपनी सरकारों से कहना चाहिये—हमें मजदूरी नहीं, नौकरी नहीं, कृषि और शिल्प का स्वावलम्बी कार्य्य करने का अवसर दो। इस माँग का परिणाम यह होगा कि सिक्कों और मशीनों का मुँह जोहना बन्द हो जायगा।

यद्यपि कृषि और शिल्प में ही सभी कार्य्य सीमित नहीं हो जायँगे तथापि उनसे जीवन और जीविका की शैली बदल जायगी, वह प्राणान्वित हो जायगी। अन्य कार्य्य भी इसी के अनुरूप हार्दिक हो जायँगे। व्यक्ति समाज बन जायगा।

चीन ने जैसे सिक्कों की विडम्बना समझ ली, वैसे ही निकट भविष्य में सभी देश यन्त्रों की जड़ता भी समझ जायँगे। सिक्कों के हटाने से मशीनें भी हट जायेंगी। या तो परिस्थितियों से बाध्य होकर सरकारें ही इन्हें हटायेंगी या इनसे उपराम हो जाने पर जनता ही नारा लगायेगी—सिक्कों को हटाओ, मशीनों को हटाओ!

काशी,

१२–७–५५

ग्राम्य जीवन के काव्यचित्र

ग्राम्य जीवन प्रकृति का जीवन है। वहाँ का मानव-समाज नानारूप प्रकृति की ही अभिव्यक्ति है, सुकृति है। प्रकृति ने गाँवों को जीवन के जो नैसर्गिक साधन दिये हैं, उन्हीं के अनुरूप मनुष्य के पुरुषार्थों (अर्थ, धर्म्म, काम, मोक्ष) का विकास हुआ है। रीति-नीति, संस्कृति, कला, ये सब धरती के भीतर से धन-धान्य की तरह ही प्रकृति के भीतर से अंकुरित, प्रस्फुटित और प्रफुल्लित हुई हैं। अतएव, काव्य में ग्राम्य जीवन को चित्रित करना प्रकृति को ही सगुण अथवा सामाजिक रूप देना है।

हिन्दी का मध्ययुगीन काव्य-साहित्य ग्राम्य जीवन से ही निःसृत हुआ है। उसमें प्रकृति और मनुष्य अन्योन्य हो गये हैं। प्रकृति चाहे उद्दीपन और अलङ्करण के रूप में आयी हो, मनुष्य चाहे नायक-नायिका के रूप में आया हो, जीवन चाहे कर्म्मक्षेत्र में कलरव कर रहा हो, वातावरण सर्वत्र ग्रामीण है।

ग्रामगीतों में तो प्रकृति ही मनुष्य के कण्ठ से गा रही है। सौन्दर्य्य, प्रेम, विरह और घरेलू सुख-दुख में वही अपने हर्ष-विमर्ष तथा उत्कर्ष-अपकर्ष को व्यक्त कर रही है। उस प्राकृतिक जीवन में राजनीति भी चाँदी-सोने के तबक की तरह मढ़ी हुई है। इसे अभिशाप कहें या वरदान, ग्राम्यजन भी राजसिक स्वप्न देखते थे। सुदामा ने तो कृष्ण से उनका वैभव पा लिया था, किन्तु सभी के भाग्य में

तो वह ऐश्वर्य सुलभ नहीं था। कालान्तर में आर्थिक राजनीति के कारण प्रकृति और सुख-सम्पत्ति दोनों ही गाँवों से विमुख हो गयीं। वह रास-रंग, वह हास-हुलास, वह पर्व्व-त्यौहार, वह कौटुम्बिक उत्साह वहाँ अब कहाँ दिखायी देता है! विपन्न ग्रामीण के लिए जीवन धारण करना कठिन हो गया है। वह कहता है—

> भुखिया के मारे बिरहा बिसरि गा,
>
> भूलि गयीं कजरी-कबीर।
>
> देखि क गोरी क मोहिनी सुरतिया,
>
> अब उठे न करेजवा में पीर।

ग्रामगीतों का आह्लाद, देव-बिहारी-मतिराम-घनानन्द-रसखान-पद्माकर का माधुर्य्य, जयदेव-विद्यापति-चण्डीदास का अनुराग, सूर-तुलसी का सहज जन-समाज, अब काव्य की कल्पना मात्र रह गया है।......

ऋद्धि-सिद्धिदायिनी प्रकृति की लोक-भूमि गाँव यान्त्रिक नगरों में विलीन होते जा रहे हैं। अब भी पृथ्वी शस्यशून्य नहीं हो गयी है, अतएव नगरों में भी प्रकृति अपनी सजीव स्मृति दिलाती रहती है। प्रकृति और काव्य के मर्म्मज्ञ, आचार्य्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़ कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे, पर उनके बिना रहा नहीं जाता।.... हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता।.... बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है।

वह मानों ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो !"

ग्रामगीतों और ब्रजभाषा के बाद खड़ीबोली में जिन द्विवेदी-युगीन कवियों ने ग्राम्य जीवन-सम्बन्धी कविताएँ लिखीं वे मूलतः ग्रामीण थे। अतएव नागरिकों की तरह उन्हें अवकाश के समय ही प्रकृति की ओर देखने की आवश्यकता नहीं पड़ी, वह तो मातृ-अञ्चल की तरह प्रत्येक क्षण उनके साथ रहती थी।

कभी बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था—

अहा, ग्रामजीवन भी क्या है!
क्यों न इसे सबका मन चाहे!!

क्या अब भी यही कहा जा सकता है! ग्राम्य जीवन के प्रति यह मुग्धता कम होती गयी, क्रमशः 'किसान', 'अनघ', 'साकेत', 'कुणाल' में सामाजिक और दार्शनिक चिन्तन प्रधान होता गया।

सच तो यह है कि नगर मगर की तरह वाणिज्य और राजनीति के पैने दाँतों से ज्यों-ज्यों गाँवों को दबोचते और अपनी लोलुपता से लीलते गये त्यों-त्यों वहाँ का जीवन चर्व्वित-चर्व्वण होता चला गया। जितना ही पीछे लौट कर हम गाँवों को देखते हैं उतना ही वे अपने अविकृत एवं अविकल रूप में मनोहर दिखायी देते हैं।... ग्रामगीतों के युग में भी यद्यपि सुख-दुख था, भाव-अभाव था, तथापि उनमें जीवन सर्वथा परवश नहीं था, वह स्वाभाविक हर्ष-विषाद से भी उल्लसित और उच्छ्वसित होता था।

ग्रामगीतों के अतिरिक्त ग्राम्य जीवन का विशद रूप

संस्कृत के काव्यों तथा सूरसागर और तुलसीकृत रामायण में देखा जा सकता है। व्रजभाषा के शृंगारिक कवियों की रचनाओं में उस जीवन का केवल रसाभास है। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में जब सांस्कृतिक दृष्टि से अतीत की ओर ध्यान दिया गया तब संस्कृत के कवियों और सूर-तुलसी के पदचिह्नों (जनपदों) को काव्य में पुनरुज्जीवित किया गया। फिर भी अतीत वर्त्तमान में पूर्णतः मूर्त्तिमान नहीं हो सका। अपने समय के वातावरण में ग्राम्य-जीवन सामाजिक संस्कारों की तरह रूढ़ चित्र के रूप में व्यक्त होता रहा।

...नगरों की बढ़ती हुई विभीषिका गाँवों को तो लीलती ही जा रही है, उन्हीं के साथ-साथ प्रकृति को भी मिटाती जा रही है। ऐसे कुसमय में सहृदय कवियों ने जीवन और काव्य में प्रकृति को महत्त्व दिया। प्रकृति से ही तो गाँवों की रक्षा हो सकती है।

द्विवेदी-युग के कवियों में पण्डित श्रीधर पाठक और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के प्रमुख कवि हैं। शुक्ल जी की रुचि प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण (लोकजीवन से सम्बद्ध चित्रण) की ओर थी। 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक एक लम्बी संस्मरणात्मक कविता में उनके भावों और विचारों का मार्मिक परिचय मिलता है। पाश्चात्य राजनीति और अर्थनीति का लोकजीवन पर कैसा दुष्प्रभाव पड़ेगा, इसे शुक्लजी ने इन शब्दों में इङ्गित कर दिया है—(यही उनके संस्मरण और विश्लेषण का निष्कर्ष है)—

जीने हेतु हाथ-पाँव मारना ही जीवन का
एक-मात्र रूप हम चारों ओर पावेंगे।
अवसर आयु में से क्रीड़ा के कटगे सब,
बालक भी खेलते न देखने में आवेंगे।
सारी वृत्ति अर्थ से बँधेगी, इस भाँति लोग
कहीं आँख-कान तक व्यर्थ न लगावेंगे।
ऐसे इस अर्थ के अनर्थ से विभीत होके,
मन के पुनीत भाव सारे भाग जावेंगे।

नागरिक कृत्रिमता से हमारे नये सांस्कृतिक कवियों को ही उपराम नहीं हुआ, उनसे पहिले पश्चिम के उन निसर्गप्रेमी कवियों को भी उपराम हो गया था जो ग्रामीण जीवन को प्यार करते थे। उन्हीं कवियों में गोल्डस्मिथ भी था। पाठक जी ने उसकी एक कविता-पुस्तक का अनुवाद 'ऊजड़ ग्राम' नाम से किया था। बहुत पहिले भारतेन्दु-युग के कवि पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी 'जीर्ण-जनपद' नामक एक खण्ड-काव्य लिखा था। प्रेमघन जी, पाठक जी, शुक्ल जी, एक ही काव्य-परिवार के प्राणी जान पड़ते हैं। गोल्डस्मिथ से इन लोगों का हृदय-साम्य है। उसकी पुस्तक से इनकी कविताओं को प्रेरणा मिली होगी।

ज्यों-ज्यों पश्चिमीय भौतिकवाद के कारण प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध-विच्छेद होता गया त्यों-त्यों काव्य में भी जीवन विभक्त होता गया। शुक्ल जी ने प्रकृति के जिस संश्लिष्ट चित्रण का संकेत किया था वह द्विवेदी-युग के बाद की कविता में नहीं मिलता।

लोक-जीवन उपन्यासों और कहानियों में चला गया, काव्य में केवल प्रकृति शेष रह गयी। अंग्रेजी के रोमैन्टिक काव्य से प्रभावित हिन्दी के छायावाद में प्रकृति का स्थान सर्वोपरि हो गया। वह कल्पना और भावना का सूक्ष्म व्यक्तित्व पा गयी। इस नवीन काव्यसृष्टि का प्रादुर्भाव उसी प्राचीन परम्परा में हुआ था जिस परम्परा में अतीत से लेकर द्विवेदी-युग तक का साहित्य जीता-जागता चला आ रहा था। सभी देशों का रूमानी साहित्य अपने अतीत का ही अंशजात अंशुधर है, अतएव, नवीन होते हुए भी वह उससे असंगत नहीं है। प्रकृति के सान्निध्य में जीवन का स्वाभाविक स्वरूप पहिचान लेने के कारण ही रोमैन्टिक साहित्य अतीत की सरलता, सुषमा, मधुरता को प्यार करता है; चाहे वह ग्रामगीतों में हो, चाहे किसी भी देश के किसी भी क्लासिक में हो।

छायावाद ने प्रकृति को अपनाया, यह भावात्मक दृष्टि से अच्छा ही हुआ। किन्तु प्रकृति को जीवन में प्राणान्वित करने के लिए मानवीय पुरुषार्थ की भी आवश्यकता थी। इसी के अभाव में छायावाद निष्क्रिय भाव-विलास मात्र बन कर रह गया। प्रकृति के अनुरूप पुरुषार्थ गान्धीवाद लेकर आया, उसने प्रकृति और मनुष्य को ग्रामोद्योगों में मिला दिया। ग्राम्यजीवन फिर हमारा आदर्श बन गया।

.......तो, छायावाद प्रकृति को, गान्धीवाद प्रकृति और मनुष्य को, प्रगतिवाद मनुष्य और यन्त्र को लेकर अग्रसर हुआ। छायावाद और गान्धीवाद में ऐक्य है, क्योंकि दोनों का माध्यम सजीव है, दोनों का सांस्कृतिक दृष्टिकोण चैतन्य है, यान्त्रिक नहीं। प्रगतिवाद

का इन दोनों से पार्थक्य है। वह मनुष्य की सजीवता को यान्त्रिक जड़ता से अनुबद्ध करता है। उसमें प्रकृति तो छूट ही गयी, मनुष्य भी कर्त्ता नहीं, निमित्त मात्र रह गया। जिन आधुनिक उद्योगों के कारण हमारे सामाजिक जीवन का ह्रास हो गया, उन्हीं के द्वारा वह समाज का नव निर्म्माण करना चाहता है।

छायावाद के जिन कवियों ने प्रकति का भाव-पक्ष ही ग्रहण किया था, उसका ग्रामीण आर्थिक पक्ष (व्यावहारिक पक्ष) हृदयङ्गम नहीं कर पाया था, उन कवियों ने प्रगतिवाद का साथ दिया। किन्तु उनका अन्तःकरण प्रकृति के सम्पर्क में सचेतन था, उर्व्वर था, अतएव, उनमें कोरे राजनीतिक प्रगतिवादियों की-सी जड़ता, हठवादिता अथवा वैचारिक अनुदारता नहीं थी। छायावाद युग के श्री सुमित्रानन्दन पन्त ऐसे ही प्रगतिवादी कवि थे।

'युगवाणी' में पन्त जी ने भी प्रकृति को छोड़ दिया था, केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से गान्धीवाद और मार्क्सवाद का समन्वय किया था। किन्तु इस युग का सैद्धान्तिक मतभेद मूलतः आर्थिक मतभेद है। प्रगतिवाद तो स्पष्ट शब्दों में इसी तथ्य को सामने रखता है। उसका भौतिक आधार यन्त्रप्रसूत अर्थशास्त्र है, गान्धीवाद का आध्यात्मिक आधार प्राकृतिक अर्थशास्त्र है। प्रकृति को छोड़ देने पर गान्धीवाद की कोई व्यावहारिक सार्थकता नहीं रह जाती। अतएव, प्रगतिवाद के भौतिक दर्शन और गान्धीवाद के आध्यात्मिक दर्शन का समन्वय करने की अपेक्षा अर्थशास्त्र का स्वरूप निश्चित करने की आवश्यकता

है। यदि हम अर्थशास्त्र को स्वाभाविक बना लें तो सैद्धान्तिक समस्याएँ स्वयं ही निर्मूल हो जायँगी।

अपने प्राकृतिक अनुराग के कारण छायावाद का कवि स्वभावतः गान्धीवाद के ग्रामीण अर्थशास्त्र को स्वीकार करेगा। 'ग्राम्या' में पन्त जी भी मुख्यतः गान्धीवादी हैं। यद्यपि गाँवों को मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी आर्थिक दृष्टि से देखने के कारण उनकी सहानुभूति बौद्धिक हो गयी है, तथापि वहाँ की सामाजिक और प्राकृतिक सुषमा को उन्होंने कवि के सहज हृदय से देखा है।

प्रगतिवादी होते हुए भी पन्त जी ने 'ग्राम्या' में आधुनिकता को महत्त्व नहीं दिया है, ग्राम्य नारी को नागरी की 'अग्रजा' और मानवी के अभाव की 'पूर्त्ति' कह कर ग्रामीण सरलता को ही शिरोधार्य्य किया है। किन्तु स्वयं नागरिक होने के कारण वे वहाँ की दरिद्रता और अशिक्षा को दूर करने के लिए गाँवों के अनुरूप साधन नहीं सुझा सके हैं, आधुनिक दृष्टि से मुक्त नहीं हो सके हैं, ग्राम्य जीवन में समा नहीं सके हैं, केवल दर्शक रह गये हैं। फिर भी गान्धी-युग की लोक-जागृति से उन्होंने यह हृदयङ्गम कर लिया है कि भारतमाता 'ग्रामवासिनी' है, खादी और चरखा से ही उसे शोभा-श्री मिल सकती है—

"नग्न गात यदि भारत माँ का,
तो खादी समृद्धि की राका,

हरो देश की दरिद्रता का
तम, तम, तम !

कहता चरखा प्रजातन्त्र से :
'मैं कामद हूँ सभी मन्त्र से,
कहता हँस आधुनिक यन्त्र से:
नम, नम, नम !'

पन्तजी का यह उद्‌गार यदि केवल प्रतिध्वनि मात्र नहीं है, इसमें उनकी अन्तर-ध्वनि भी है तो आशा है वे कभी लोकनिर्म्माण का परिपूर्ण ग्रामीण दृष्टिकोण ग्रहण कर लेंगे।

अब तक के ग्राम्यजीवन-सम्बन्धी काव्यचित्रों में 'ग्राम्या' का स्थान अन्यतम है। इसमें कितनी सरलता, सुगमता, स्वाभाविकता एवं सजीवता है। इसके चित्रों में गाँवों की प्रकृति, मनुष्य और वहाँ का सामाजिक जीवन, सब एक-दूसरे से तद्रूप हो गये हैं। एक झलक लीजिये—

बगिया के छोटे पेड़ों पर
सुन्दर लगते छोटे छाजन,
सुन्दर, गेहूँ की बालों पर
मोती के दानों-से हिमकन।
प्रात: ओझल हो जाता जग
भू पर आता ज्यों उतर गगन,
सुन्दर लगते फिर कुहरे से
उठते-से खेत, बाग, गृह, वन।

इस कुहरिल वातावरण में छायावाद का धुँधलापन है। छाया-वाद अपने झिलमिल आवरण में जिस नैसर्गिक जगत को आवृत किये हुए था यह उसी का चित्रोद्घाटन है। इसमें रोमैन्टिक काव्य का क्लासिक धरातल है।......

प्रगतिवाद भी यद्यपि ग्राम्यजीवन को लोकजीवन के रूप में अपनाता है तथापि वह मुख्यतः नगरों के मजदूरों का ही प्रतिनिधित्व करता है। ग्राम्यजीवन तो उसके लिए नागरिक रङ्गमञ्च पर लोक-कलाओं के प्रदर्शन की तरह है, संवेदनशील हृदय के मर्म्मस्पन्दन की तरह नहीं । परोक्ष रूप से छायावाद और प्रत्यक्ष रूप से गान्धीवाद ही ग्राम्यजीवन का अन्तरङ्ग प्रतिनिधि है।

नगरों के कारण आज बहुत-सी कृत्रिम समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। वे बिना किसी केन्द्रविन्दु के शून्य में ववण्डर की तरह चक्कर खा रही हैं। यदि हम सारी समस्याओं के केन्द्रविन्दु में पृथ्वी की धुरी की तरह संस्कृति को रख कर विचार करें तो समस्याएँ जीवन की सार्थक क्रियाएँ बन जायँ, न कि बौद्धिक विडम्बनाएँ ।

संस्कृति की दृष्टि से हमें नगरों को नहीं, गाँवों को देखना होगा। 'ग्राम्या' में पन्त जी भी कहते हैं—

> मनुष्यत्व के मूलतत्व ग्रामों ही में अन्तर्हित।
> उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।

यदि ग्राम्यभूमि संस्कृति की मूलभूमि है तो कार्य्यकर्त्ताओं को ही नहीं, कलाकारों को भी लोकवाणी वहीं पुकार रही है—

"हलधर के भैया रे!
धरती के छैया रे!
खेतों की राधा के
भोले कन्हैया रे!
आओ रे, हो जाओ, अन्नदाता किसान रे!
टूटी झोपड़ियों के भूखे भगवान रे!!"

काशी,
तुलसी-जयन्ती,
२६–७–५५

प्रसाद और प्रेमचन्द की कृतियाँ

समकालीन होकर भी प्रसाद और प्रेमचन्द कितने भिन्न युगों में निवास करते थे। प्रसाद जी गुप्त-काल और बौद्धकाल में रहते थे, प्रेमचन्द जी राष्ट्रीय जागरण के गान्धी-युग में। देश-काल के वातावरण का अन्तर होते हुए भी बुद्ध और गान्धी का अन्तःकरण एक था, फिर प्रसाद और प्रेमचन्द में भिन्नता क्यों है? प्रसाद भारतीय संस्कृति के श्रद्धालु थे, प्रेमचन्द उससे उदासीन थे। यों कहें, प्रसाद स्वप्नदर्शी थे, प्रेमचन्द प्रत्यक्षदर्शी। दोनों में भावना और भुक्ति का अन्तर था।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की आलोचना करते हुए प्रेमचन्द जी ने लिखा था कि यह सब गड़े मुर्दे उखाड़ने का प्रयास है। क्या अतीत को जगाना ऐसा ही घृणित कृत्य है?—

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन-काल में ही प्रतिक्षण अतीत होता रहता है : जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त। फिर भी वह बचपन और यौवन को पुनः पुनः स्मरण करता रहता है। जीवन का अर्थ यदि केवल क्षणभङ्गुर शरीर नहीं है तो अनुभूतियों को स्मृतियों में भी सजीव किया जा सकता है : रूखे-सूखे क्षणों में रस-सञ्चार करने के लिए, धुँधले पथ पर अपना गन्तव्य पहिचानने के लिए।

वर्त्तमान की दृष्टि से देखें तो प्रसाद और प्रेमचन्द, दोनों ही अब अतीतकालीन हो गये हैं। कहाँ है अब वह गुप्त-काल और बौद्ध-

काल ! कहाँ है अब वह गान्धी का नेतृत्व-काल !! फिर भी, प्रसाद और प्रेमचन्द साहित्य में अमर हैं।

प्रसाद जी ऐतिहासिक नाटककार होते हुए भी रूमानी कलाकार थे, प्रेमचन्द राष्ट्रीय उपन्यासकार होते हुए भी क्लासिक साहित्यकार थ। इनकी नूतनता और पुरातनता लेखन-कला की दृष्टि में है। कथानक की दृष्टि से तो प्रसाद जी ही पुराने और प्रेमचन्द नये जान पड़ते हैं। किन्तु स्थायित्व प्रसाद जी के साहित्य में है, सामयिकता प्रेमचन्द जी के साहित्य में। बात यह है कि प्राचीन साहित्य तात्कालिक आन्दोलनों पर निर्भर नहीं, बल्कि जीवन के कुछ चिरन्तन सत्यों (दार्शनिक उपलब्धियों) पर अवलम्बित है, देश-काल को युग-प्रेरणा उन्हीं से मिलती रही है। इस युग में भी गान्धी जी प्राचीन साहित्य से ही अपना पथ-निर्देश पाते थे। प्रसाद जी की भी प्रेरणा का ध्रुवकेन्द्र वही है।

किसी भी युग के साहित्य में शाश्वत और सामयिक, दोनों प्रकार के प्रयत्नों का यथास्थान अपना-अपना महत्त्व है; इस दृष्टि से प्रसाद और प्रेमचन्द का भी अपना-अपना साहित्यिक व्यक्तित्व है। उनकी कृतियों पर उन्हीं की स्थिति में रख कर विचार करना चाहिये।

[१]

प्रसाद जी संस्कृत कवियों और नाटककारों की परम्परा के अर्वाचीन साहित्यकार थे। सांस्कृतिक युग की काव्यात्मा को ही उन्होंने छायावाद की नवीन शैली या अभिनव अभिव्यक्ति दे दी थी। रवीन्द्रनाथ ने भी तो ऐसा ही किया था।

जैसी आत्मा वैसी ही शैली होती है, अतएव, छायावाद की शैली नवीन होते हुए भी संस्कृत साहित्य तथा मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य से विच्छिन्न नहीं है। शैली पर यद्यपि अंग्रेजी रोमान्टिसिज्म का प्रभाव पड़ा है तथापि वह प्रभाव एक ही जैसी अनुभूतियों के कारण अस्वभाविक नहीं जान पड़ता। प्राचीन साहित्य और उसका उत्तराधिकारी रोमैन्टिक साहित्य, दोनों ही यथार्थवादी साहित्य से भिन्न हैं, अतएव उनमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की अभिन्नता स्वाभाविक ही है।....

वातावरण

प्रसाद जी पहिले व्रजभाषा में कविता लिखते थे। समस्यापूर्त्ति करते थे। उस समय व्रजभाषा के गीतकाव्य और मुक्तक का ह्रास होने लगा था। वातावरण में वह भावात्मक उत्साह नहीं रह गया था। भाराक्रान्त जीवन ही समस्या बनता जा रहा था। किन्तु आज की तरह न तो समस्या ही स्पष्ट थी और न कोई युगचेतना ही बलवती हो सकी थी। यद्यपि भारतेन्दु-युग में राष्ट्रीयता का आरम्भ हो चुका था, तथापि काव्य शृङ्गार रस की ही ओर उन्मुख था। वह धार्म्मिक, राजनीतिक और सामाजिक जागृति का बाल्यकाल था। समस्यापूर्त्ति के रूप में एक ओर पुराने कवियों के भावों की रक्षा की जाती थी, दूसरी ओर सामयिक परिस्थितियों (विशेषतः सामाजिक परिस्थितियों) की कुछ झलक भी दे दी जाती थी।

......यह तो ह्रास-काल में व्रजभाषा-काव्य की लोक-सामान्य प्रवृत्ति थी। किन्तु कुछ असाधारण प्रतिभाएँ भी प्रस्फुटित हुईं। स्वयं अपने युग में भारतेन्दु जी तथा उनके बाद रत्नाकर जी और

सत्यनारायण 'कविरत्न' जी ने अपनी विशेष प्रतिभा से अस्तमित व्रजभाषा का काव्योत्कर्ष किया। किन्तु उसमें नयी शैली और नयी उद्भावना का अभाव था। प्रसाद जी ने अपने प्रारम्भिक प्रयासों (समस्यापूर्तियों) के बाद व्रजभाषा में छायावाद की ध्वन्यात्मक शैली और अन्तर्मुखी भावानुभूति का श्रीगणेश किया। उनके इस नवीन काव्योन्मेष का परिचय 'चित्राधार' और 'प्रेमपथिक' से मिलता है। 'प्रेमपथिक' को उन्होंने पहिले व्रजभाषा में ही लिखा था।

प्रसाद जी को छायावाद की काव्यकला की प्रेरणा कहाँ से मिली? हम कहें, रवीन्द्रनाथ और माइकेल मधसूदनदत्त की रचनाओं से। 'चित्राधार' और 'प्रेमपथिक' के पहिले से ही रवीन्द्रनाथ का काव्य-प्रभाव आधुनिक भारतीय साहित्य पर पड़ने लगा था। छायावाद. का अन्तर्निगूढ़ भावात्मक संस्कार प्रसाद जी को रवीन्द्रनाथ से मिला। इसके बाद द्विवेदी युग के प्रभाव से जब उन्होंने 'प्रेमपथिक' को खड़ी-बोली में लिखा तब अतुकान्त की प्रेरणा कदाचित् माइकेल के 'मेघनाद-वध' से मिली।

......मूलतः व्रजभाषा का मधुर शृङ्गारिक संस्कार प्रसाद जी के काव्य में बना रहा। आचार्य्य शुक्ल जी ने कहा है, उनकी कविताओं में 'मधुचर्य्या' की प्रधानता है। किन्तु यह धारणा संकुचित है। प्रसाद जी ने व्रजभाषा की मधुर प्रवृत्तियों (सौन्दर्य्य और प्रेम) को छायावाद का सूक्ष्म अन्तःकरण भी दे दिया है।

हम देखते हैं, प्रसाद जी पर अंग्रेजी का प्रभाव नहीं पड़ा। वे भारतीय प्रभावों से ही प्रभावित होते रहे हैं। सम्भव है, अंग्रेजी

का प्रभाव भी वे भारतीय माध्यम से ग्रहण करते रहे हों। उदाहरण के लिए 'लहर' में प्रयुक्त उनके मुक्तछन्द को देखा जा सकता है। किन्तु बंगला में गिरीशचन्द्र घोष और हिन्दी में निराला ने उसका प्रयोग प्रसाद से पहिले कर दिया था।

ऐतिहासिक नाटक

परवर्त्ती काल में व्रजभाषा की अपेक्षा प्रसाद जी को संस्कृत साहित्य से अधिक सहयोग मिला। उनके नाटक नाट्यकला की दृष्टि से प्राय: संस्कृत नाटकों से अनुप्रेरित हैं। प्रश्न यह है कि ऐतिहासिक कथानकों की प्रेरणा उन्हें कहाँ से मिली? सम्भव है, राखालदास वन्द्योपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यासों ('शशाङ्क' और 'करुणा') ने उन्हें इतिहास की ओर प्रेरित किया हो, किन्तु उसे देखने और उसकी अन्तरात्मा को उद्घाटित करने में प्रसाद की अपनी दृष्टिमत्ता, अपनी सहृदयता, अपनी मौलिकता है।

पूर्ववर्त्ती साहित्य से प्रसाद जी अभिव्यक्ति के लिये दिशाएँ पाते रहे, किन्तु उन दिशाओं में वे अपनी ही प्रतिभा से अपनी ही गति-विधि से पदचिह्न बनाते रहे। उनकी प्रतिभा कितनी सर्वतोमुखी थी! कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, सबमें वे अपना अप्रतिम स्थान बना गये हैं।

पहिले हम प्रसाद जी के नाटकों को देखें।

प्रसाद जी ने जब नाटक लिखना शुरू किया तब हिन्दी के नाट्य साहित्य की क्या स्थिति थी?

भारतेन्दु ने रङ्गमञ्च की दृष्टि से और उनके समय के किन्हीं लेखकों ने साहित्यिक दृष्टि से एकाध नाटक लिखे। सम्भव है, नाटक

लिखने की प्रेरणा प्रसाद जी को भारतेन्दु-युग से मिली हो, किन्तु उस युग का कोई प्रभाव उनके नाटकों पर नहीं है। प्रसाद जी के समय में रङ्गमञ्च की दृष्टि से पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटक और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक लोकप्रिय हो गये थे, किन्तु उन्हें इन रङ्गमञ्चीय नाटकों से कोई प्रेरणा नहीं मिली। दृश्यकाव्य होने के कारण नाटकों को रङ्गमञ्च की दृष्टि से देखा जाता है, किन्तु रङ्गमञ्च के मनोरञ्जन में ही नाटकों की सफलता नहीं है; वह तो किसी भी सामान्य नाटक से सुलभ हो सकता है। रङ्ग-मञ्चीय सफलता-असफलता अभिनेताओं के अभ्यास और दर्शकों के मानसिक स्तर पर निर्भर है। कुशल अभिनेताओं द्वारा शिक्षित दर्शकों के बीच प्रसाद जी के नाटक भी सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं।

प्रसाद जी का नाट्यसाहित्य बहुत गम्भीर उद्देश्य लेकर प्रणीत हुआ है। वह मनोरञ्जन से अधिक मनुष्य का मनोमन्थन करता है। जैसा कि कहा है, उन्होंने संस्कृत नाटकों का भाव-प्रभाव ग्रहण किया है। उनके प्रारम्भिक नाटकों ('सज्जन', 'विशाख', 'राज्यश्री' इत्यादि) में यह भाव-प्रभाव स्पष्ट है, बाद के नाटकों ('अजातशत्रु', 'नागयज्ञ' 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी') में प्रच्छन्न हो गया है। क्रमशः जीवन-चिन्तन की तरह नाट्यकला में भी उनकी कुछ अपनी नवीनता आ गयी है, जैसे 'एक घूँट' और 'कामना' में। हैं ये भी पुरानी शैली के ही नाटक, किन्तु एकाङ्की और प्रतीक रूपक की दृष्टि से इनमें आधुनिकता है।

प्रसाद ने अपने नाटकों द्वारा इतिहास का स्थूल रूप नहीं,

ऐतिहासिक व्यक्तियों का अन्तर्निर्म्माण दिया है। एक उदाहरण लीजिये।

'स्कन्दगुप्त' सम्राट होकर भी अपनी साधना में एकाकी अथवा अविवाहित रह जाता है। देवसेना जब उससे विदा होना चाहती है तब वह कहता है —

"देवी, यह न कहो। जीवन के शेष दिन कर्म्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग एक-दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। किन्तु इस नन्दन की वसन्त श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से रोकूँ?......

देवसेना! देवसेना!! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह!!"

देवसेना कहती है—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्, यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिये। मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा।"

यह पूछने पर कि क्या स्कन्दगुप्त का विवाह नहीं हुआ था, प्रसाद जी ने कहा था—उसकी किसी सन्तान का उल्लेख नहीं मिलता, अतएव, उसके चरित्र को इतना उज्ज्वल कर देने का अवसर मिल गया।

इस कथन से यह आभास मिलता है कि प्रसाद जी इतिहास के भीतर से किस तरह चरित्रों की सृष्टि करते थे।

इतिहास का इतिवृत्त बाहरी सत्य है, उसे फ्रेम बना कर प्रसाद जी मनुष्य की चित्तवृत्तियों को आमण्डित करते थे।

उनके नाटकों में कितना बहिरन्तर द्वन्द्व है! राजनीतिक संघर्ष की विकरालता तो सभी के लिए अनुभवगम्य है, किन्तु उससे भी भीषण संघर्ष मनुष्य के भीतर अगोचर है, कलाकार के अतिरिक्त उसे और कौन देख पाता है। यों तो प्रसाद के सभी नाटकों में दुहरा संघर्ष है, (इस दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' में कूटनीतिज्ञ दार्शनिक चाणक्य का चरित्र अपनी पराकाष्ठा पर है), किन्तु रूमानी दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' का हृदय पर जितना मार्मिक प्रभाव पड़ता है उतना किसी अन्य नाटक का नहीं।

चट्टान-जैसे कठोरतम यथार्थ वातावरण के भीतर से प्रसाद के नाटकीय गीत हृदय के सजल स्रोत की तरह बह रहे हैं। ये गीत ही उनके नाटकों की अन्तरात्मा का भाष्य कर देते हैं। उनमें कितनी व्यथा, कितनी मर्म्मकथा है!!—'मानस-तरी भरी करुणा-जल होती ऊपर-नीचे!'

प्रसाद की करुणा में सौन्दर्य्य और प्रेम की विह्वलता, विकलता और भाग्य की विडम्बना है। 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी' का भाव-जगत उनके नाटकीय गीतों में है। सच तो यह है कि प्रसाद का गीतकाव्य ही दृश्यकाव्य बन गया है।

राजनीति के लौह वक्षस्थल में इतना सुकुमार स्पन्दन कहाँ से

आ गया! हम कहें, नारी के मधुर किन्तु निःस्पृह व्यक्तित्व की दिव्यता से। प्रसाद के नाटकों की कतिपय पात्रियाँ भूले नहीं भूलतीं देवसेना, मालविका, कोमा, अलका। ये पुनः पुनः हृदय को अपनी स्मृतियों से विभोर कर जाती हैं।

भारतेन्दु-युग से लेकर अब तक प्रसाद-जैसा कोई प्रकाण्ड नाटककार हिन्दी में नहीं आया।

कुछ विशेष चरित्रों के चित्रकारों (जैसे शकुन्तला के शिल्पी कालिदास) को छोड़ कर संस्कृत में भी उनकी कोटि का नाटककार दुर्लभ है। सच तो यह है कि अतीत की सम्पूर्ण भारतीय नाट्य प्रतिभाएँ प्रसाद में पुञ्जीभूत हो गयी हैं। वे सबके सङ्गम हैं, सिन्धु हैं। उनके बाद हिन्दी का नाट्यसाहित्य जीवन की वर्त्तमान कटुताओं और समस्याओं में पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हो गया है। यद्यपि परिस्थितियों ने पूर्व और पश्चिम की राजनीतिक और आर्थिक सीमाएँ समाप्त कर दी हैं, फिर भी अतीत और वर्त्तमान का सामाजिक पार्थक्य संस्कृति और विकृति की तरह बना हुआ है।

खेद है कि प्रसाद के बाद के समस्यामूलक अथवा यथार्थवादी नाटकों में गम्भीर मनन-चिन्तन का अभाव है। उनमें जीवन की अतलान्तक गहराई नहीं है, केवल ऊपरी सतह का झाग है। यह युग ही ऐसा हो गया है।

अतीत का कथानक लेकर प्रसाद के बाद पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त नाट्य क्षेत्र में अग्रसर हुए, किन्तु 'वरमाला' के बाद वे फिर कोई उतना अच्छा नाटक नहीं लिख सके। छायावाद का भावजगत

लेकर श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ज्योत्स्ना'-द्वारा नाट्य क्षेत्र में पदार्पण किया। यह अतीत और वर्त्तमान से परे देश-काल-रहित शाश्वत मनोलोक का दृश्यकाव्य था। उन्होंने आधुनिक युग के क्षि त वातावरण में प्रकृति का स्वर्गिक आलोक दिया। 'युगवाणी'-काल में यद्यपि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भौतिकवादी हो गया था, तथापि छायावाद के सूक्ष्म संस्कारों से निर्म्मित उनका अन्तःकरण सांस्कृतिक था, अतएव वे फिर अपने चिरन्तन भावजगत में लौट गये। 'ज्योत्स्ना' के बाद उन्होंने कई गीतनाट्य लिखे।

प्रसाद ने पाषाण-जैसे जीवन के कठोर स्थापत्य में भावना की जो ललित कला दी थी, उसका प्रतिनिधित्व 'कोणार्क' तथा अपने एकाङ्की नाटकों (जैसे 'शारदीया') में श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने किया। उनमें प्रसाद की नाट्यप्रतिभा का नवप्रस्फुटित तारुण्य है।...

प्रसाद ने अपने नाटकों में करुण प्रणय का जो धीरोदात्त चित्र अङ्कित किया था उसे ही उन्होंने अपनी भावात्मक कहानियों ('आकाश-दीप', 'आँधी', 'इन्द्रधनुष') में विशेष रूप से जीवन्त कर दिया। उनकी ये कहानियाँ 'प्रेमपथिक' की तरह ही एक-एक खण्डकाव्य हैं। द्विवेदी-युग के बाद छायावाद के द्वारा जैसे कविता की एक नवीन शैली आयी वैसे ही प्रसाद जी के द्वारा कहानी की भी एक विशेष शैली आयी। वह कितनी मूक, सांकेतिक और मर्म्मव्यञ्जक है!

'कामायनी'

अपनी कृतियों में प्रसाद जी मुख्यतः कवि हैं। 'कामायनी' उनकी काव्यप्रतिभा का सांस्कृतिक कलश है, आध्यात्मिक हिमशिखर

है। इसका कथानक पौराणिक है। किन्तु जैसे ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने अपनी समकालीन प्रवृत्तियों का भी समावेश कर दिया है वैसे ही इस पौराणिक कथानक मे भी। मनुष्य की कुछ पार्थिव प्रवृत्तियाँ क्षणिक अथवा तात्कालिक होकर भी किसी-न-किसी रूप में सभी युगों में बनी रहती हैं। किन्तु नश्वर शरीर में ही शाश्वत अन्तश्चेतना जिस तरह अपना स्थायी जीवन-दर्शन दे जाती है वैसे ही 'कामायनी' भी देश-काल की परिवर्त्तनशील परिस्थितियों में अपना अक्षय आत्मदर्शन दे गयी है। उसकी परिणति जीवन की इस मानसी अनुभूति में हुई है—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

.. ..

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

अब तक 'कामायनी' पर मुख्यतः दार्शनिक दृष्टि से ही विचार किया गया है, इसी दृष्टि से उसे लोकप्रियता मिली है। किन्तु काव्य केवल ज्ञानकोष नहीं है तो उस पर कला की दृष्टि से विशेष रूप से विचार करना चाहिये।

अपनी बात कहने के पहिले यहाँ दो प्रतिनिधि साहित्यिकों का मत उपस्थित किया जाता है।

'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में आचार्य्य शुक्ल जी लिखते हैं—"कामायनी में उन्होंने नर-जीवन के विकास में भिन्न-भिन्न भावात्मिका वृत्तियों का योग और संघर्ष बड़ी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना-द्वारा चित्रित करके मानवता का रसात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है।" किन्तु इच्छा, कर्म्म, और ज्ञान के "जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अन्त में सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है।

यदि मधुचर्य्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती तो इस काव्य के भीतर मानवता की योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में चित्रित होती। कर्म्म को कवि ने या तो काम्य यज्ञों के बीच दिखाया है अथवा उद्योग-धन्धों या शासन-विधानों के बीच। श्रद्धा के मङ्गलमय योग से किस प्रकार कर्म्म धर्म्म का रूप धारण करता है, यह भावना कवि से दूर ही रही।

यदि हम विशद काव्य की अन्तर्योजना पर न ध्यान दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढ़ें; श्रद्धा, काम, लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग-अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यञ्जना की अत्यन्त मनोरम पद्धति आती है।...स्थान-स्थान पर प्रकृति की मधुर, भव्य और आकर्षक विभूतियों की योजना का तो कहना ही क्या है! प्रकृति के ध्वंसकारी

भीषण रूपवेग का अत्यन्त व्यापक परिधि के बीच चित्रण हुआ है। इस प्रकार प्रसाद जी प्रबन्ध-क्षेत्र में भी छायावाद की चित्रप्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बँधा गये हैं।"

इन शब्दों में शुक्ल जी ने 'कामायनी' के सैद्धान्तिक पक्ष अथवा वस्तु-विधान पर ही विचार किया है, आलोचक होते हुए भी वे उसके कलापक्ष पर पर्य्याप्त दृष्टिपात नहीं कर सके। कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने (आलोचक न होते हुए भी) 'कामायनी' के सैद्धान्तिक और कलात्मक पक्ष की समुचित समीक्षा की है, उनके मन्तव्य में शुक्ल जी से अधिक विशदता है।

'यदि मैं कामायनी लिखता ?'—शीर्षक लेख में पन्त जी कहते हैं—"मैं यदि कभी कामायनी लिखने की असम्भव बात सोचता भी तो उसे इतना भी सफल तथा पूर्ण नहीं बना सकता, जितना कि महान क्षमता तथा प्रतिभाशाली प्रसाद जी बना गये हैं।" फिर भी जिस दृष्टि से कोई कलाकार किसी अन्य चित्रकार-द्वारा प्रयुक्त चित्रपट पर अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति को अभीष्ट रूप देना चाहता है उसी दृष्टि से पन्त जी ने 'कामायनी' का सर्वेक्षण किया है। कल्पना कीजिये, प्रसाद जी के चित्रपट (कथानक) और पन्त जी के अद्यतन चिन्तन और कलाभिव्यञ्जन का समायोग हो जाता तो 'कामायनी' का क्या रूप होता।

'कामायनी' जिस दार्शनिक परम्परा का काव्य है, पन्त जी छायावाद-युग में उस परम्परा को पार कर नयी परिस्थितियों में

पहुँच चुके हैं, अतएव उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता को समय के दुरन्त छोर से देख सके हैं। वे कहते हैं—"यद्यपि उसमें (कामायनी में) नैतिक पतन को ही संघर्ष का कारण बतलाया गया है जो आज की युग-समस्या के लिए पूर्णत: घटित नहीं होता; किन्तु उसके बाद जो कुछ है वह चिरपरिचित तथा पुरातनतम है, जिसे शायद आज का अध्यात्म अतिक्रम कर चुका है—अतिक्रम इस अर्थ में कि वह मानव-जीवन के अधिक निकट पहुँच गया है।...

जिस अभेद चैतन्य के लोक में पहुँच कर विश्वजीवन के सुख-दुख-मय संघर्ष से मुक्त होने का सन्देश 'कामायनी' में मिलता है वह मुझे पर्य्याप्त नहीं लगता। मैं मानव-चेतना का आरोहण करवा कर उसे वहीं मानस-तट पर अथवा अधिमानस-भूमि पर कैलाश-शिखर के सान्निध्य में छोड़ कर सन्तोष नहीं करता। वह आनन्द चैतन्य तो है ही और जीवन-संघर्ष से विरक्त होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है। पर यह तो विश्व-जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है! मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह इड़ा और श्रद्धा का समन्वय कर वहाँ तक कैसे पहुँचे...। ...श्रद्धा की सहायता से समरस-स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोकजीवन की ओर नहीं लौट आये। आने पर भी वहाँ कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिरपुरातन, पिष्टपेषित निदान है; किन्तु व्याधि कैसे दूर हो? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँच कर वह भी व्यक्तिगत रूप से?"

स्वयं कलाकार होने के कारण पन्त जी ने 'कामायनी' पर काव्यकला की दृष्टि से भी विचार किया है। वे लिखते हैं— "कामायनी का कथानक उसमें निहित काव्यदर्शन की अवतारणा के लिए केवल संक्षिप्त रङ्गमञ्च का काम करता है। कथानक की दृष्टि से उसमें कुछ भी विशेषता नहीं है। उसमें न विस्तार है, न विवरण, और न किसी प्रकार की प्रगाढ़ता, हृदय-मन्थन अथवा भावों के उत्थान-पतन की सूक्ष्मता भी नहीं है। सब कुछ अस्पष्ट तथा कल्पना की तहों में लिपटा हुआ प्रसाद जी के इच्छा-इङ्गित पर चलता प्रतीत होता है। भावभूमि पर आधारित होते हुए भी भावनाओं के संवेग में केवल शिथिलता तथा अनगढ़पन ही अधिक मिलता है। अत्यन्त साधारणीकरण के कारण वैशिष्ट्य का अभाव मन को खटकने लगता है। विधान का सौष्ठव, स्थूल और सूक्ष्म के कुहासे से गम्फित छायापट की तरह, तीव्र अनुभति के संवेदन में घनीभूत नहीं हो पाया है। पर जैसा कुछ भी धुला-घुला रंगों का छायाप्रसार है, वह सुथरा, मनमोहक तथा बहुमूल्य है।

वैसे साधारणतः कामायनी की कला-चेतना में जैसा निखार मिलता है, कलाशिल्प अथवा शब्दशिल्प में वैसी प्रौढ़ता नहीं मिलती। कहीं-कहीं छन्द-भङ्ग तो असावधानी या छापे की गलती से भी हो सकता है, किन्तु बेमेल शब्द तथा श्लथ पदविन्यास इस महान कृति के अनुकूल नहीं लगते। प्रायः प्रत्येक सर्ग एक स्वतन्त्र कविता की तरह आरम्भ होता है, उसमें बहुत कुछ ऐसा विस्तार तथा बाहुल्य है जो प्रायः काव्यद्रव्य की दृष्टि से बहुमूल्य नहीं और जिस पर

संयम रखने की आवश्यकता थी, जिससे सन्तुलन की श्रीवृद्धि हो सकती थी। 'दर्शन'–शीर्षक सर्ग का छन्द भी उसके उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।"

काव्यकला की दृष्टि से पन्त जी छायावाद युग के शिल्पकुशल कवि हैं, अतएव, इस प्रसङ्ग में 'कामायनी' पर उनसे अधिक और क्या कहा जाय। फिर भी कुछ अपनी बात कहना चाहता हूँ।

'कामायनी' जब पहिली बार प्रकाशित हुई थी तभी मैंने उसे पढ़ा था। वह इतनी रूखी-सूखी रचना लगी कि फिर कभी पढ़ने की इच्छा नहीं हुई। उसमें इतनी गरिष्ठता है कि हृदय को सरस आकर्षण नहीं मिलता। 'लज्जा' इत्यादि कुछ मधुर सर्ग भी हैं, जो रसिकों को रुच सकते हैं। किन्तु उद्‌गारों में जो कहीं-कहीं उत्कटता है वह शान्त सुष्ठ हृदय को सुरुचिपूर्ण नहीं जान पड़ती। 'कामायनी' में तीव्र अनुभूतियों का आधिक्य है, जो 'आँसू' नामक काव्य की तरह 'कामायनी' में भी प्रसाद जी पर उर्दू प्रवृत्ति के प्रभाव को सूचित करती हैं। यहीं पर सांस्कृतिक सौष्ठव अथवा स्वभाव-संयम की आवश्यकता थी। कथानक की तरह ही यदि राग-वृत्ति में भी 'स्थूल और सूक्ष्म से गुम्फित छायापट' की तरह ही सुगम्भीरता होती तो 'कामायनी' की रसात्मकता प्रसाद के नाटकों, कहानियों और गीतों की तरह ही अन्तःस्पर्श करती, बाहर छलक नहीं पड़ती।

अपनी कविताओं में प्रसाद जी भाव की तरह भाषा को भी कवित्वपूर्ण नहीं बना सके, इसी लिए उनके शब्द 'बेमेल' हो जाते

हैं। अपनी भावुकता से छायावाद का काव्य-संस्कार लेकर वे साहित्य में आ गये, किन्तु शुरू से ही भाषा के परिमार्जन की ओर ध्यान नहीं दे सके। उनकी अभिव्यक्ति गद्य-प्रधान है, इसी लिए नाटकों और कहानियों में वह अपने अनुकूल क्षेत्र पा जाती है।

शुक्ल जी का कहना है कि "कहीं-कहीं व्यवहृत शब्दों की व्यञ्जकता पर्य्याप्त न होने पर भाव अस्फुट रह जाता है, पाठक को बहुत कुछ अपनी ओर से आक्षेप करना पड़ता है।"—हम कह सकते हैं कि 'शब्दों की अपर्य्याप्त व्यञ्जकता' ही प्रसाद की कविताओं में ध्वन्यात्मकता है-(जो काव्य का एक सूक्ष्म गुण है, जिसे शुक्ल जी जैसे आलोचक अपनी रुचि-भिन्नता के कारण ग्रहण नहीं कर सके)। शब्दों की अपर्य्याप्तता और प्रसङ्ग की सांकेतिक गूढ़ता के कारण प्रसाद की कविताओं के भाव निःसन्देह अत्यन्त अस्फुट रह जाते हैं। यह अस्फुटता भी किसी सीमा तक काव्य का आन्तरिक गुण है। पन्त जी के शब्दों में—"वह आधे खुले आधे छिपे मुग्धा के अवगुण्ठित मुख की तरह मन से आँखमिचौनी खेलती रहती है।"

भाषा की असमर्थता और भाव की अस्फुटता को प्रसाद जी अपनी नाटकीय व्यञ्जना से सुबोध कर देते हैं। अस्फुटता कुहुक और कुतूहल जगाती है, भाव को ग्रहण करने के लिए पाठकों में क्षमता उत्पन्न करती है, उन्हें हृदय का स्वावलम्बन देती है।

प्रसाद की कविताओं के दृश्य नेपथ्य की तरह ओझल, प्रसङ्ग स्मृति की तरह इङ्गित, उद्‌गार नाटकीय सम्भाषण की तरह

वाग्विदग्ध होते हैं। यही कारण है कि 'कामायनी' का छायाभिनय दर्शकों को मुग्ध कर लेता है।

हाँ, 'कामायनी' का आध्यात्मिक पक्ष जितना सुचिन्तित है, कला-पक्ष उतना परिष्कृत नहीं है। नाटकीय व्यञ्जना के अतिरिक्त उसकी विशेषता प्रबन्ध-काव्य की नयी शैली में है। नियमानुसार इसे प्रबन्ध-काव्य तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु छायावाद के गीतकाव्य के वृहत् संयोजन के रूप में यह उसी का महाकाव्य है। बिन्दु और सिन्धु की तरह छायावाद के गीतकाव्य और महाकाव्य में कलेवर का ही अन्तर है, काव्यविन्यास का नहीं।

जैसा कि पन्त जी ने कहा है, 'कामायनी' का 'प्रायः प्रत्येक सर्ग एक स्वतन्त्र कविता की तरह आरम्भ होता है'; इन स्वतन्त्र सर्गों को बिखरे नक्षत्रों की तरह विरल और सम्बद्ध कर देने में ही 'कामायनी' की प्रबन्ध-शैली की विशेषता है। 'द्वापर' में गुप्त जी की भी कुछ ऐसी ही प्रबन्ध-शैली है। किन्तु 'कामायनी' उसकी अपेक्षा 'साकेत' के नवम सर्ग (गीतकाव्य) से सादृश्य रखती है, उसमें मानों वही प्रकीर्ण प्रबन्ध-शैली और भी विशद एवं विकसित रूप में नवीनता पा गयी है। यह द्विवेदी-युग की नहीं, छायावाद की अपनी शैली है। 'साकेत' के नवम सर्ग में गुप्त जी छायावाद से ही प्रभावित हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'कामायनी' में मनु का चरित्र प्रधान हो गया है, श्रद्धा का चरित्र गौण; अतएव, यह काव्य अपने नाम-को सार्थक नहीं करता, इसे 'मन्वन्तर' कहा जा सकता है।

अपने नाटकों, कविताओं और कहानियों में प्रसाद जी प्रायः उच्चस्तर के पात्र-पात्रियों को चित्रित करते रहे हैं, उपन्यासों ('कंकाल' और 'तितली') में उन्होंने निम्नस्तर के पात्र-पात्रियों को भी चित्रित किया। 'स्कन्दगुप्त' में उन्होंने किसी के मुख से कहलाया है—'तेरा मुकुट श्रमजीवियों के ठोकरों से भी तुच्छ है', सर्वहारा के प्रति उनकी यह संवेदना 'तितली' मे व्यक्त हुई। उसमें वे ग्रामीण जीवन के पर्य्यवेक्षक और रचनात्मक निर्देशक हैं। प्रसाद जी या छायावाद का कोई भी भावुक कवि जिस कल्पना-जगत में विहार करता आया है उस कल्पना-जगत का पार्थिव आधार यही दुर्दशाग्रस्त ग्रामीण जगत है।

पन्त जी ने 'ग्राम्या' में कहा है—

यहाँ धरा का मुख कुरूप है,
कुत्सित गर्हित जन का जीवन।

इसी कुरूप, कुत्सित, गर्हित वास्तविकता की पीठ पर कविता, कला और संस्कृति का सत्यम्-शिवम्—सुन्दरम् भावारूढ़ था, अन्ततोगत्वा निराधार हो जाने पर कवियों और कलाकारों को वाध्य होकर आकाश से पृथ्वी की ओर भी देखना पड़ा।...

'तितली' में ग्रामीण जीवन का दिग्दर्शन करा कर और 'कङ्काल' में नागरिक समाज का खोखलापन दिखला कर प्रसाद जी 'इरावती' में फिर अपने स्वप्निल ऐतिहासिक अतीत की ओर लौट गये।

[२]

ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व विशेष रूप से प्रेमचन्द जी ने किया। वे स्वयं ग्रामीण थे, नगर में प्रवासी थे। अपनी कुछ

रचनाओं में नागरिक समाज की गति-विधि दिखला कर 'प्रेमाश्रम', 'रङ्गभूमि', 'गोदान' में वे ग्रामीण जीवन में ही केन्द्रस्थ हो गये।

प्रसाद की तरह प्रेमचन्द भी आदर्शवादी थे। यद्यपि दोनों का आदर्श मध्ययुगीन था, तथापि दोनों के आदर्श में भारतीय संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का अन्तर पड़ गया। प्रेमचन्द ने अपना आदर्श सूफियों और शेखसादी जैसे बुजुर्गों से पाया था।

कवि होने के कारण प्रसाद जी में अपनी उद्भावना-शक्ति थी। अतएव, वे आदर्श के अनुयायी नहीं, अनुभावक थे। उनमें अपना व्यक्तित्त्व था, मौलिक जीवन-दर्शन था। वे कलाकार थे। प्रेमचन्द कलाकार नहीं, देश-काल के वातावरण से प्रभावित जनता थे। उनम आत्मोद्भावना की कमी थी। उनकी नवीनता जीवन-दर्शन में नहीं, लोकचित्रण में है। मध्ययुग के समाज को जैसे वे आज के सार्वजनिक युग में ले आये वैसे ही पुराने कथा-साहित्य को नये रेखाङ्कन में।

प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी का कथा-साहित्य कहाँ था? वह या तो उर्दू से प्रभावित था, जैसे 'चन्द्रकान्ता'; या बँगला से प्रभावित था, जैसे किशोरीलाल गोस्वामी का उपन्यास। प्रेमचन्द जी के जीवन-दर्शन में मुस्लिम सम्प्रदाय का प्रभाव था, किन्तु उनके कथा-साहित्य पर न उर्दू का प्रभाव पड़ा और न बँगला का। फिर कहानियों और उपन्यासों की नयी लेखन-शैली उन्हें कहाँ से मिली? कदाचित् उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य कथा-साहित्य से। किसी लिपि के अभ्यास से जैसे एक अपनी भी लिखावट बन जाती है वैसे ही

पश्चिमीय कथा-शैली से प्रेमचन्द जी की अपनी देशी शैली बन गयी थी। द्विवेदी-युग के काव्यविन्यास-जैसा उनका कथाविन्यास है; उसमें सूक्ष्मता नहीं, स्थूल ड्राइंग है।

प्रसाद और प्रेमचन्द में रवीन्द्र और शरद का अन्तर है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रसाद रवीन्द्रनाथ थे, प्रेमचन्द शरच्चन्द्र थे। छायावाद और प्रत्यक्ष जगत में जो वैभिन्य है वही रवीन्द्र और शरद तथा प्रसाद और प्रेमचन्द में भी है। शरच्चन्द्र काव्य की भावानुभूतियों को महत्त्व नहीं देते थे। 'श्रीकान्त' के प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा है—"भगवान ने मुझमें कल्पना की, कवित्व की बूँद भी नहीं डाली है।"—इस कथन में उनकी नम्रता भी है और भावुकता-प्रधान रवीन्द्र-साहित्य के प्रति प्रतिक्रिया भी।

प्रसाद की भावप्रवणता को ग्रहण न कर पाने और प्रत्यक्ष को ही सत्य मान लेने के कारण प्रेमचन्द जी भी उनके ऐतिहासिक नाटकों से कुछ ऐसे ही विमुख थे, जैसे शरच्चन्द्र काव्य-जगत से। दोनों महानुभाव यह भूल गये कि अपने कथा-साहित्य द्वारा जिन आदर्शों और उदात्त चरित्रों को समाज में स्थापित करना चाहते थे वे स्थापत्य के स्थूल उपकरणों (वस्तु-जगत के पार्थिव उपादानों) से नहीं, बल्कि ललित हृदय के सूक्ष्म अन्तर्भावों से विनिर्म्मित हुए थे। आदर्श की दृष्टि से जीवन में विफल हो जाने के कारण ही शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द को भावुकता से उपराम हो गया था।

शरच्चन्द्र थे पारिवारिक जीवन के प्रेक्षक। 'सप्त-सरोज' में प्रेमचन्द जी भी उसी जीवन के कहानीकार हैं। कदाचित् उनके

कहानी-संग्रहों में 'सप्त सरोज' ही अपनी सरलता और स्वाभाविकता के कारण सर्वश्रेष्ठ है। उसमें प्रेमचन्द जी की आत्मनिष्ठा गृह-संस्कृति के रूप में व्यक्त हुई है। शरच्चन्द्र की कृतियों में भी यही सांस्कृतिक निष्ठा है। अतएव, रवीन्द्रनाथ की तरह भावुक न होते हुए भी वे अपने सांस्कृतिक चरित्रों में काव्य-सौष्ठव दे सके हैं।

'सप्त सरोज' के बाद प्रेमचन्द ने पारिवारिक जीवन की सीमा पार कर सार्वजनिक जगत में पदार्पण किया। यद्यपि उनकी रचनाओं में कौटुम्बिक जीवन का भी चित्रण होता रहा, किन्तु उनमें 'सप्त सरोज' की-सी वह सांस्कृतिक निष्ठा नहीं रह गयी। यहीं से शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द के कथाक्षेत्र और दृष्टिकोण में अन्तर पड़ गया। लेखन-कला के सिवा प्रेमचन्द जी के पास स्वतन्त्र जीवन-दर्शन नहीं रह गया। आन्दोलनों और नेताओं का वे अनुगमन करने लगे। किन्तु शरच्चन्द्र आत्मचेता कलाकार थे, यद्यपि संस्कृति के श्रद्धालु और लोकजागृति के प्रोत्साहक थे तथापि आन्दोलनों और नेताओं का उन्होंने अनुसरण नहीं किया। चाहे 'पथ के दावेदार' हो, चाहे 'शेष प्रश्न', कहीं भी उन्होंने व्यक्तित्व खोकर राजनैतिक और नैतिक नेतृत्व स्वीकार नहीं किया। पुरानी रूढ़ियों में जैसे वे संस्कृति को निष्पन्द नहीं देखना चाहते थे वैसे ही आत्मचेतना को नयी रूढ़ियों (सामयिक प्रवृत्तियों) से जड़ीभूत नहीं हो जाने देना चाहते थे। कवि और कलाकार को बहुत ऊँचा स्थान देते थे। उनमें हठवादिता नहीं थी, देश-काल के प्रति जागरूक रहते थे, तभी तो रूढ़ियों से मुक्त रह सके, पथ-निर्देश दे सके।

प्रेमचन्द जी भी यद्यपि रूढ़िवादी नहीं थे, तथापि आदर्श को चिरप्रचलित नैतिक दृष्टि से ही देखते थे, इसीलिए शरद के 'चरित्र-हीन' और 'देवदास'—जैसा उपन्यास नहीं दे सके। क्या उनमें आत्मबल का अभाव था? स्वयं अपना रास्ता नहीं निकाल सकते थे? अपने लिए और सबके लिए क्या उनका यही आदर्श-वाक्य था?—महाजनो येन गतः स पन्थाः।

साहित्यकार का दायित्व

शरच्चन्द्र ने 'पथ के दावेदार' में कवि और कलाकार के जिस मौलिक व्यक्तित्त्व का सङ्केत किया है, आज के धार्म्मिक, सामाजिक और राजनैतिक वातावरण में उसी व्यक्तित्त्व की रक्षा का प्रश्न नयी पीढ़ी के लिए चिन्तनीय हो गया है। आज 'साहित्यकार के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व' के रूप में उस पर दृष्टिपात किया जा रहा है। विविध विचारकों ने इस पर विविध दृष्टि से विचार किया है। सद्यः यह प्रसङ्ग राजनीति और अर्थ-नीति के कारण आ उपस्थित हुआ है। बाबू धीरेन्द्र वर्म्मा ने इसका स्पष्टीकरण इन शब्दों में कर दिया है—"राजसत्ताओं के नियन्त्रण से कलाकार किस प्रकार मुक्त हो जिससे वह अन्तरङ्ग संयम और स्वातन्त्र्य से प्रेरित होकर मानववादी कला का सृजन कर सके।"

यदि राजनीति के कारण ही यह प्रसङ्ग सामने आया है तो एक दल अपनी रक्षा के लिए दूसरे दल से भी यही उत्तरदायित्व की माँग कर सकता है। अच्छा तो यह है कि इस प्रसङ्ग पर गुटबन्दी की दृष्टि से नहीं, मानवता की दृष्टि से विचार करें।

इसी दृष्टि से जैनेन्द्र जी कहते हैं—"साहित्यकार, स्पष्ट है, कोई अलग या खास आदमी नहीं है। जो उसके बारे में सही है, वही हर एक के बारे में सही होना चाहिये। साहित्यकार होने के नाते हम उसकी ओर से बात करें, यह ठीक नहीं, पर वह मानव के पक्ष की बात है।"

मानव होकर मनुष्य व्यक्ति नहीं और न समाज व्यक्तियों का समूह रह जाता है, वह आत्मचेतना की इकाई और समाज (लोक-चेतना) उसका विस्तार बन जाता है। इस रूप में दायित्व आरोपित नहीं, स्वतः प्रेरित कर्त्तव्य हो जाता है। और तभी यह कहा जा सकता है—"साहित्य के क्षेत्र में (या किसी भी क्षेत्र में) व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और 'जनहित' (सामाजिक दायित्व) दो अलग-अलग प्रतिमान नहीं हैं, न हो सकते हैं।"

साहित्यकार के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की बात इसलिए कही जाती है कि सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा वह अधिक जागरूक एवं चैतन्य होता है और राजनीति अथवा अर्थनीति उसी को आत्मविस्मृत कर जनता को भी पथभ्रष्ट कर देती है। किन्तु यदि साहित्यकार भी साधक नहीं, प्रवृत्तियों का कठपुतला है तो उसकी स्वतन्त्रता अहं-म्मन्यता, उच्छृङ्खलता और मनोरागों की अराजकता का ही पर्य्याय हो जायगी। इस स्थिति में सामाजिक दायित्व अनिवार्य्य है।

प्रेमचन्द जी के समय में यह प्रसङ्ग इस रूप में नहीं आया था, तथापि उनकी रचनाओं से ही ज्ञात हो जाता है कि वे 'सामाजिक दायित्व' को विशेष महत्त्व देते थे, इसके बिना 'साहित्यकार

का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य' निरङ्कुश हो जाता है। इस प्रकार का व्यक्तित्त्व यदि समाज के लिए एक समस्या है तो समाज भी ऐसे व्यक्तित्त्व के लिए एक समस्या है। परिवार को छोड़ कर अलग हो जाना आसान है किन्तु परिवार को लेकर उसे अपने मानसिक स्तर पर उठाना एक रचनात्मक तपस्या है, सामूहिक साधना है। कोई भी दृष्टिकोण नकारात्मक ही नहीं होना चाहिये, आत्मनिम्मीण भी देना चाहिये।

प्रेमचन्द जी चाहे कोई मौलिक आत्मनिम्मीण नहीं दे सके हों किन्तु उनका दृष्टिकोण रचनात्मक था, वह ग्रामीण अथवा गान्धीवादी था।

जैसा कि पहिले कहा है, प्रेमचन्द स्वयं जनता थे। जनता की तरह ही सुधारकों और नेताओं के अनुयायी थे। 'सेवा सदन' से लेकर 'रङ्गभूमि' तक जब जैसा आन्दोलन चला तब तैसा उन्होंने सार्वजनिक जागृति का साथ दिया। साहित्यकार होते हुए भी वे असाधारण व्यक्ति नहीं, सर्वसाधारण के प्रतीक थे; इसीलिए समाज की समस्या उनकी अपनी समस्या थी।

प्रेमचन्द जी ने जिस समाज का प्रतिनिधित्त्व किया वह धार्म्मिक और आर्थिक दृष्टि से मध्ययुगीन समाज था। गान्धी-युग के स्वतन्त्रता-संग्राम में 'रङ्गभूमि' का सूरदास उसी समाज का धार्म्मिक सन्त है। इसके बाद 'गोदान' का भक्तहृदय कृषक गृहस्थ होरी उस समाज का दारुण आर्थिक कारुण्य है। सूरदास की सात्विकता और होरी की विपन्नता, यही तो प्रेमचन्द जी का जीवन था।

...'गोदान' से पूर्व प्रेमचन्द नेताओं और सामयिक आन्दोलनों के अनुयायी थे किन्तु 'गोदान' में स्वतन्त्र साहित्यकार हैं। इसमें उन्होंने अब तक के राजनीतिक, धार्म्मिक और आर्थिक वातावरण का खोखलापन दिखला दिया है। उनके लिए नगर और गाँव, दोनों ही मानवता की दृष्टि से शून्य हो गये हैं। जीवन के नाम पर सर्वत्र आत्मछलना और लोकछलना छल-छन्द कर रही है।...

संसार से विदा होने के पूर्व प्रसाद जी 'कामायनी' को एक आध्यात्मिक समाधान के रूप में छोड़ गये हैं, 'गोदान' को प्रेमचन्द जी एक आर्थिक समस्या के रूप में। यदि वे जीवित होते तो 'गोदान' के बाद उनकी साहित्यिक गति-विधि क्या होती? क्या वे भी राजनीतिक गुटबन्दियों में होरी को भूल जाते?

काशी,
६–८–५५

वर्म्मा जी के उपन्यास

वर्षों पहिले बाबू वृन्दावन लाल वर्म्मा का एक उपन्यास पढ़ा था—'प्रत्यागत'। वह मालाबार के मोपलों के साम्प्रदायिक दंगे को पृष्ठभूमि बना कर लिखा गया था। समाज का एक तथाकथित आवारा दक्षिण चला गया था। दंगे के समय जीता-जागता घर वापस आ गया। इस उपन्यास की विशेषता कथानक में नहीं, चरित्र-चित्रण और सहानुभूतिपूर्ण मनोविज्ञान में है। उन दिनों शरच्चन्द्र की रचनाओं का मुझ पर बहुत सम्मोहन छाया हुआ । उस उपन्यास में भी मुझे उन्हीं की कथा-शैली और जीवन-दृष्टि का आभास मिला था, अतएव पसन्द आ गया।

शरच्चन्द्र की कृतियाँ बङ्गीय समाज को चित्रित करती रही हैं 'प्रत्यागत' में उत्तर प्रदेश का सामाजिक चित्रण था, इसलिए भी यह उपन्यास अधिक निकटतम जान पड़ा। किन्तु भारतीय समाज अपने पारिवारिक जीवन में सर्वत्र एक-सा ही है, अतएव, प्रान्तीयता की सीमा पार कर कोई भी कलाकृति सभी का मर्म्मस्पर्श कर लेती है। फिर भी यह आकांक्षा बनी हुई थी कि शरच्चन्द्र की सीधी-सादी स्वाभाविक लेखन-शैली और उदात्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि हिन्दी-भाषी समाज के चित्रपट पर भी प्रत्यक्ष हो। इसी आकांक्षा की आंशिक पूर्त्ति 'प्रत्यागत' और सियारामशरण जी के उपन्यासों से हुई।

'प्रत्यागत' के वर्षों बाद वर्म्मा जी के बहुत से उपन्यास प्रकाशित हुए। 'विराटा की पद्मिनी' और 'गढ़ कुण्डार' पढ़ कर ऐसा ज्ञात हुआ कि वे 'प्रत्यागत' की सादगी छोड़ कर कथानक और चरित्र-चित्रण की जटिलता की ओर चले गये। कथानक और वातावरण तिलस्मी उपन्यासों-जैसा चक्करदार और पात्र दुस्साहसिक चरित्रों-जैसे चमत्कारपूर्ण जान पड़े। ऐसे उपन्यासों से मनोरञ्जन तो हो जाता है, किन्तु हृदय निस्पन्द रह जाता है।

इधर वर्म्मा जी अनवरत रूप से लिख रहे हैं। हमारे साहित्य में वे ऐतिहासिक उपन्यासकार माने जाते हैं। आचार्य्य शुक्ल जी चाहते थे कि प्रसाद जी नाटकों के अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखें। उनकी इस इच्छा को वर्म्मा जी के उपन्यासों से सन्तोष मिल सकता था।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में मुस्लिम-काल के पहिले के सांस्कृतिक भारत को सजीव किया था। वर्म्मा जी ने अपने उपन्यासों में हिन्दू-मुस्लिम-काल के भारत को अङ्कित किया है। यद्यपि संघर्षों में वातावरण राजनीतिक है तथापि अतीत की संस्कृति और कला का भी यथास्थल समावेश है।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में लोक-जीवन को छोड़ दिया था, वर्म्मा जी ने अपने उपन्यासों में उसी को मर्म्मबिन्दु बना दिया है।

सौन्दर्य्य, प्रणय और सामाजिक समारोहों के कारण वर्म्मा जी के उपन्यास राजनीति-प्रधान होते हुए भी सरस हैं। किन्तु इतिहास के स्थूल चित्रण के कारण उनके उपन्यासों में भावना का वह तरल

अन्तःकरण नहीं है जो प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों में है। कह सकते हैं कि वर्म्मा जी ने इतिहास का तथ्योद्‌घाटन किया है, रूखे-सूखे स्थापत्य में भित्तिचित्रों और मूर्त्तियों की तरह प्रसङ्गवश मानव-हृदय को भी उत्कीर्ण कर दिया है। उपलब्ध सामग्रियों का यथाशक्ति सहृदय उपयोग किया है।

लोकजीवन की दृष्टि से वर्म्मा जी प्रेमचन्द जी के समीप हैं। वे जिस ग्रामीण जीवन के प्रतिनिधि थे, उनके बाद के लेखकों में वर्म्मा जी ही उसी सजीवता, स्वाभाविकता और आत्मीयता से उसका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। 'अमरबेल' इसका सजीव प्रमाण है।

लेखन-कला की दृष्टि से प्रेमचन्द जी की कथाशैली बहुत सुगठित और नपी-तुली है। उसमें चित्रकार की तूलिका की स्वच्छन्दता नहीं है। टकसाली भाषा की तरह ही वह टकसाली शैली है। अपनी विशेष रुचि के कारण यत्र-तत्र अपने चित्रपट में अवान्तर प्रसङ्ग भी जोड़ देते थे, जैसे 'गोदान' और 'कायाकल्प' में। पुरानी परम्परा से प्राप्त नीति-वाक्यों की तरह ही उनकी रचनाओं में मन्त्र-तन्त्र, किस्से-कहानी, चुटकुले-लतीफे, सैर-सपाटे का भी समावेश है। वे कोरे कथाकार नहीं थे, अतएव यथास्थल उन्होंने कला का विशेष अधिकार भी ले लिया है।

यद्यपि इतिहास तथा वास्तविक जगत के साँचे में ढली होने के कारण वर्म्मा जी की कथाशैली भी विशेष स्वच्छन्द नहीं है, तथापि वह प्रेमचन्द जी की शैली की तरह नपी-तुली और टकसाली नहीं है।

उसमें रोमान्टिसिज्म भी है। इसीलिए उनके कथाचित्रों में यथास्थल बड़ी सूक्ष्म भावव्यञ्जना और चित्रचारुता मिलती है। जैसे—"निन्नी ने अपना हाथ उसके हाथ से छुटा लिया। छुटाते समय गीली आँखों उसकी ओर देखा। मानसिंह के नेत्रों से आभा-सी बिखर रही थी। वह आभा उन गीली आँखों में समा गयी।"—('मृगनयनी')।

प्रेमचन्द जी की रचनाओं में जितनी सहृदयता है उतनी भावात्मकता नहीं। अपनी भाव-चेतना के कारण वर्म्मा जी भारतीय संस्कृति और कला को हृदयङ्गम कर सके हैं। यद्यपि उनकी भाषा प्रेमचन्द की भाषा की तरह गठीली नहीं, लचीली और ढीली है; तथापि भावना और मनोविज्ञान की दृष्टि से उन्होंने प्रेमचन्द जी के कुछ अभावों की पूर्त्ति की है।

...'प्रत्यागत' में वर्म्मा जी की जिस कथाशैली और मनोवैज्ञानिक सहानुभूति का परिचय मिला था, वह कथानक के संक्षिप्त चित्रपट में बहुत स्पष्ट था। उसके बाद उनके बड़े उपन्यासों में वह शैली और अनुभूति ऐसी छिप गयी कि जान पड़ता था, उनका चित्रपट और दृष्टिकोण एकदम बदल गया। किन्तु अत्यन्त संक्षिप्त उपन्यास 'लगन' को देखने से ज्ञात हो गया कि उनके सम्पूर्ण कथा-साहित्य का सहज संवेदनशील अन्त:करण और अन्तर्निगूढ़ मनोविज्ञान वही है जो 'प्रत्यागत' में है। बड़े उपन्यासों में उसी मर्म्मस्थल का कथानक और वातावरण विविधता और विस्तार पा गया है, इतिहास और समाज की तरह। 'लगन' उनकी सम्पूर्ण रचनाओं का रुचिर प्रतीक है।

भाषा, कथानक, कथाविन्यास, कथोपकथन, वातावरण, चरित्रचित्रण, सभी दृष्टि से सम्भवतः यह उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है; गागर में सागर है।

काशी,
६।८।५५

गुप्त-बन्धु और छायावाद

गुप्त-बन्धु (बाबू मैथिलीशरण गुप्त और बाबू सियारामशरण गुप्त), काव्य की दृष्टि से, स्वयं द्विवेदी-युग है। उस युग के अन्य लब्धप्रतिष्ठ कवियों (विशेषतः श्रीधर पाठक, नाथूराम शर्म्मा 'शंकर' और हरिऔध जी) का भी अपना विशिष्ट स्थान है, किन्तु वे भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के सन्धिकाल के कवि हैं; उनकी भाषा मिश्रित है। गुप्त-बन्धु शुद्ध खड़ीबोली के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने भाषा का जो पुष्ट प्राञ्जल रूप प्रस्तुत किया उसी के आधार पर वर्त्तमान हिन्दी कविता पदारूढ़ हुई।

द्विवेदी-युग पद्य का युग समझा जाता है। वस्तुतः वह खड़ी-बोली के गद्य-निर्म्माण का युग है। उस युग का गद्य ही पद्य में सद्यः प्रस्फुटित हुआ। गुप्त-बन्धुओं की भाषा, छन्द और विषय, छायावाद के भाव-काव्य के लिए प्रारम्भिक प्रयास हैं।

यद्यपि कविता में खड़ीबोली का व्यवहार भारतेन्दु-युग से ही होने लगा था, तथापि संस्कार व्रजभाषा का ही बना हुआ था, द्विवेदी-युग का उदय होने के पूर्व तक। आरम्भ में बाबू मैथिली-शरण भी व्रजभाषा में ही कविता लिखते थे। द्विवेदी जी की प्रेरणा से जब उन्होंने खड़ीबोली में (सम्भवतः सन् १९०६ में) लिखना शुरू किया तब भाषा की तरह नये भाव, नये विषय, नये छन्द का भी सर्वथा नवीन अभ्यास करना पड़ा। सांस्कृतिक निष्ठा और

देववाणी संस्कृत से उन्हें स्वावलम्बन मिला। खड़ीबोली में आर्य्योचित गरिमा आ गयी।

व्रजभाषा में शृङ्गार रस की प्रधानता हो गयी थी। जीवन का क्षेत्र संकुचित और अति ऐन्द्रयिक हो गया था। द्विवेदी-युग में जब खड़ीबोली का समारम्भ हुआ तब शृङ्गार रस की उपेक्षा नहीं की गयी, बल्कि उसी को लेकर नयी भाषा को काव्य के उपयुक्त बनाना पड़ा।* भाषा में साहित्यिक सामर्थ्य आ जाने पर द्विवेदी-युग की कविता का क्षेत्र विस्तृत होने लगा, वह अन्य रसों में भी प्रवाहित होने लगी, व्यक्तिगत संकुचित सीमा से सामाजिक सतह पर आ गयी। उसमें 'जगत और जीवन के उस नित्य स्वरूप' की स्वाभाविक झलक मिलने लगी 'जिसकी व्यञ्जना काव्य को दीर्घायु प्रदान करती है।'

गद्य से पद्य की ओर अग्रसर होने के कारण द्विवेदी-युग में खड़ीबोली एकाएक काव्य-कलित नहीं हो गयी, उसे क्रमशः कई रूपों में गुजर कर निखरना पड़ा है। प्रारम्भ में वह निबन्ध के ढाँचे में ढल कर 'पद्य-प्रबन्ध' बनी, फिर 'पद्य-प्रबन्ध' से प्रबन्ध-काव्य बनी; इसके बाद गीत-काव्य से मधुर कोमल हो गयी।

आचार्य्य शुक्ल जी ने द्विवेदी-युग की कविता को इतिवृत्तात्मक कहा है। लौकिक कुशल-क्षेम के क्षेत्र में कविता का ऐसा हो जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु व्रजभाषा के बाद जब खड़ीबोली में भी कवि की रसात्मकता आ गयी तब इतिवृत्त अन्तर्वृत्त बन गया। गीत-काव्य में छायावाद का हृदय बोल उठा।

---

* देखिये—'कविता-कलाप'

उपन्यास में प्रेमचन्द की तरह काव्य में गुप्त-बन्धु सामाजिक सतह पर जनता की मानसिक स्थिति के साथ सहयोग करते हुए उसका रागोत्कर्ष और हृदयोन्मेप कर रहे थे। खड़ीबोली के ये ग्रामवासी कवि स्वयं वह भारतीय जनता थे जिसका मानसिक निर्म्माण श्रद्धा, विश्वास, सारल्य, भावना और वस्तुजगत् के सुख-दुख से हुआ था। ठीक अर्थ में ये सामाजिक, गार्हस्थिक, आस्तिक अथवा वैष्णव जन थे। अतएव, जनता को उद्बोधित, सम्बोधित और प्रभावित करने के लिए इन्हें किसी असाधारण मनोविज्ञान का आश्रय नहीं लेना पड़ा। अपनी ही गति-विधि के अनुसार ये स्थूल अनभूतियों (सामाजिक, गार्हस्थिक और राष्ट्रीय अनुभूतियों) को एक अनुक्रम से (पद्य-प्रबन्ध और प्रबन्ध-काव्य से) सूक्ष्म अनभूतियों (गीत-काव्य की अनुभूतियों) की ओर अग्रसर कर रहे थे। 'झङ्कार' में गुप्त जी ने कहा है—

लय बँध जाय और क्रम-क्रम से
सम में समा जाय संसार।

अनुभूति और अभिव्यक्ति की यही क्रमबद्धता गुप्त जी के क्रमिक काव्य-विकास में मिलती है।

द्विवेदी-युग के अन्य नवयुवक कवियों की तरह ही आरम्भ में सियारामशरण जी को भी खड़ीबोली की प्रेरणा अपने अग्रज से ही मिली। उन्होंने गुप्त जी के पदचिह्नों का अनुसरण किया, 'मौर्य्य-विजय' और 'अनाथ' नामक खण्डकाव्य लिखे। किन्तु उनकी राग-वृत्ति भावात्मक थी, वह आत्माभिव्यञ्जन चाहती थी। प्रबन्ध-काव्य

की अपेक्षा गीतकाव्य में उसे अपनापन मिला। गुप्त जी अपने संस्मरण 'अनुज' में लिखते हैं—"वस्तुतः मेरे सहयोग की सीमा कवित्व के ककहरे तक ही समझनी चाहिये। शीघ्र ही वे गुरुदेव (रवीन्द्र-नाथ) की रचनाओं के सम्पर्क में आ गये और उनसे प्रभावित होकर उन्होंने अपना मार्ग निर्धारित कर लिया।"

रवीन्द्रनाथ (छायावाद) का प्रभाव सियाराम जी ने संवत् १९७१ (सन् १९१४) में ग्रहण किया। यह प्रभाव 'दूर्वादल', 'विषाद' और 'पाथेय' में देखा जा सकता है।

रवीन्द्रनाथ का प्रभाव सियाराम जी के भाव और शैली पर ही पड़ा। उदाहरण—

जब इस तिमिरावृत मन्दिर में
उषालोक कर उठे प्रवेश
तब तुम हे मेरे हृदयेश !
इस दीपक की जीवन-ज्वाला
कर देना तुरन्त निःशेष ;
यही प्रार्थना है सविशेष।

—('दूर्वादल')

स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब
तुमने उसको फेंक दिया;
होकर क्रुद्ध हृदय अपना तब
मैंने तुमसे हटा लिया।

सोचा—मैं उपवन में जाकर
सुमन इन्हें दिखलाऊँ लाकर।
मैंने सारी शक्ति लगा कर
कण्टक-वेष्टन पार किया।
स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब
तुमने उसको फेंक दिया।

—('दूर्वादल')

दूर से आकर तुम हे गान!
आकुल करते हृदय-मर्म्म को,
भेद लक्ष्य अनजान।
बिना साज सज्जा के सज कर
भाषा और अर्थ को तज कर,
निकल पड़े करने को सहसा
किसका अनुसन्धान!

—('विषाद')

भाषा और अर्थ से परे अनिवर्चनीय भाव की ओर उन्मुख होते हुए भी सियाराम जी की भाषा भी अपने अग्रज की भाषा की तरह ही गद्य-प्रधान है। द्विवेदी-युग का व्यावहारिक संस्कार बना ही रह गया। वस्तुतः गुप्त-बन्धु कल्पना की अपेक्षा अनुभूति के कवि हैं। इसीलिए उनकी भाषा और शैली में मानसिक सूक्ष्मता नहीं, एक सामाजिक मूर्त्तिमत्ता (स्थूलता) है। आचार्य्य शुक्ल जी काव्य की दृष्टि से इसे ही हिन्दी का स्वाभाविक रूप मानते थे तथा अंग्रेजी और बँगला से प्रभावित छायावाद-रहस्यवाद की भावना

और वैसी ही भावप्रधान भाषा तथा शैली को 'अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता' नहीं मानते थे।

कल्पना के गौण और अनुभूति के प्रधान हो जाने के कारण सियाराम जी की कविताओं पर से छायावाद का प्रभाव क्रमशः क्षीण होता गया। कल्पना एकदम छूट नहीं गयी, अनुभूति को सरस बनाने के लिए वह भी चित्रण के रूप में सहायक बनी रही, किन्तु उनकी कविताओं में भाव-स्पन्दन की अपेक्षा जीवन-दर्शन को ही प्रमुखता मिलती गयी।

'दूर्वादल', 'विषाद', 'पाथेय' के बाद 'आर्द्रा', 'मृण्मयी' और 'दैनिकी' से सियाराम जी काव्य के अलौकिक लोक से भूलोक में आ गये। परम्परागत नैतिक संस्कार तो उनमें थे ही, अब आदर्शों को मनन, चिन्तन और अनुभवों से उपलब्ध करने लगे। भावना का स्थान मनीषा को मिल गया, कल्पना का स्थान कर्म्म को। द्विवेदी-युग में उन्होंने छायावाद (रवीन्द्रनाथ) का प्रभाव ग्रहण किया था, छायावाद-युग में गान्धी जी का। वस्तुतः इन दोनों ही व्यक्तित्वों के संस्कार उनके भीतर पहले से ही सुषुप्त थे, कालानुक्रम से इनका जागरण और दृष्टि-प्रस्फुरण हुआ। आरम्भ में 'मौर्य्य-विजय' और 'अनाथ' से वे जीवन की सामाजिक सतह पर ही आये थे, किन्तु उस समय के तरुण-हृदय की स्वप्निल आत्मा उसी में सीमित नहीं रह सकी, रवीन्द्रनाथ के भाव-स्पर्श से सूक्ष्मशरीरी हो गयी। समाज को अपनी भी रचना-शक्ति (प्रतिभा) का परिचय देने लगी।

इसके बाद समाज को भी रच देने के लिए कवि की आत्मा कर्म्म-क्षेत्र में चली आयी। सियाराम जी को भावना के लिए भी और कर्म्म के लिए भी पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता थी, वही उन्हें क्रमशः रवीन्द्र और गान्धी से मिला।

आज सियाराम जी की जो साहित्यिक स्थिति है उसके सम्बन्ध में गुप्त जी लिखते हैं—"मैं ठीक नहीं कह सकता, गुरुदेव और बापू (गान्धी जी) में वे किससे अधिक प्रभावित हुए। परन्तु यह स्पष्ट है कि उनके लिखने की शैली अलङ्कृत भाषा की दृष्टि से गुरुदेव की अनुयायिनी है और उनके भाव बापू के अनुयायी हैं।"

सियाराम जी की रचनाओं में रवीन्द्रनाथ की काव्यगरिमा भी है और गान्धी जी की लोकसामान्य सरलता भी। यह सच है कि अब वे भावुकता को उतना पसन्द नहीं करते। सम्प्रति जीवन और जगत् को सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से देखते हैं।

क्या रवीन्द्रनाथ उनसे छूट गये, वे केवल बापू के ही अनुगत रह गये? नहीं। दोनों का केन्द्रविन्दु उन्हें शरच्चन्द्र में मिला। प्रेमचन्द जी (लोकजीवन) में यदि रवीन्द्रनाथ (मर्म्म-स्पन्दन) को मिला दें तो वही शरच्चन्द्र का स्वरूप हो जायगा। शरद रवीन्द्र-नाथ के अनुगृहीत थे और गान्धी-युग की कांग्रेस के कर्म्मिक होकर बापू के अनुगत भी। ऐसा ही तो सियाराम जी का भी मनोयोग है।

कविता के बाद सियाराम जी ने कहानी और उपन्यास लिखे हैं। यह उनकी सामाजिक रचना का श्रीगणेश है। शरद की संवेदन-शीलता और सहज स्वाभाविकता सियाराम जी की इन कथाकृतियों में है—'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी'।

जिन अकृत्रिम और चेतनाप्राण मानवीय आत्माओं से शरद और सियाराम ने साक्षात्कार कराया है उनमें कर्म्मलोक की वास्तविकता और उसी के भीतर से तपी हुई भावना (श्रद्धा, विश्वास, त्याग) की मार्म्मिकता है। ऐसे प्राणियों को कला की दृष्टि से चाहे रवीन्द्रनाथ का सूक्ष्म वायवी परिधान पहना दें अथवा गान्धी जी का मोटा खुरदुरा खद्दर, इससे उनकी चेतना में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

सियाराम जी उपन्यासों, कहानियों, व्यक्तिगत निबन्धों ('झूठ-सच') और दृष्टान्त-मूलक पद्यों से फिर प्रबन्ध-काव्य की सामाजिक भूमि पर संसरण कर रहे हैं। उनके आदि ('मौर्य्य विजय' और 'अनाथ') तथा वर्त्तमान के बीच में छायावाद डमरू का मध्यभाग बन कर रह गया। लोकजीवन से जिस तरह लोकगीतों का भी भावोन्मेष होता है उसी तरह सियाराम जी की रचनाओं में अब भी प्रबन्ध-काव्य की सतह पर यथास्थान भावना का भी उद्रेक हो जाता है। ऐसा ही तो गुप्त जी के प्रबन्ध-काव्यों में भी होता आया हैं।

सियाराम जी भावुक से तात्त्विक हो गये हैं। जीवन उनके लिए एक आदर्श पाठ हो गया है, रस-प्रवाह नहीं। अग्रज गुप्त जी के लिए जीवन रस-प्रवाह भी है। उनमें अब भी तारुण्य का स्वारस्य है। वे प्रबन्ध-काव्य की वस्तुभूमि से गीतकाव्य की भाव-भूमि की ओर अग्रसर होते गये।

शुक्ल जी लिखते हैं—"साकेत और यशोधरा इनके दो बड़े प्रबन्ध हैं। दोनों में उनके काव्यत्व का तो पूरा विकास दिखाई

देता है, पर प्रबन्ध की कमी है। बात यह है कि इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्त जी की प्रवृत्ति गीतकाव्य या नये ढंग के प्रगीत मुक्तकों (लीरिक्स) की ओर हो चुकी थी।" प्रगीत मुक्तकों से शुक्ल जी का अभिप्राय छायावाद के गीतकाव्य से है, जिसका विवेचन उन्होंने साहित्य के इतिहास में तृतीय उत्थान के अन्तर्गत किया है। किन्तु गुप्त जी को गीतकाव्य की प्रेरणा तृतीय उत्थान के पहिले द्विवेदी-युग में ही मिल गयी थी, 'वैतालिक' से इसका पूर्वाभास मिलता है। उसके सम्बन्ध में शुक्लजी ने लिखा है—"वैतालिक की रचना उस समय हुई जब गुप्त जी की प्रवृत्ति खड़ीबोली में गीतकाव्य प्रस्तुत करने की ओर भी हो गई।"

'झङ्कार' के गीत भी तृतीय उत्थान के पहिले द्विवेदी-युग में ही लिखे गये थे। अतएव, उसके सम्बन्ध में शुक्ल जी का यह मन्तव्य कालानुक्रम से ठीक नहीं है—"तृतीय उत्थान में 'छायावाद' के नाम से रहस्यात्मक कविताओं का कलरव सुन इन्होंने भी कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर में गाये जो 'झङ्कार' में संगृहीत हे।"

गीतकाव्य के रूप में छायावाद का आविर्भाव द्विवेदी-युग में ही हो गया था। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त है—"खड़ीबोली की कविता जिस रूप में चल रही थी उससे सतुष्ट न रह कर द्वितीय उत्थान (द्विवेदी-युग) के समाप्त होने के कुछ पहले ही कई कवि खड़ीबोली काव्य को कल्पना का नया रूप-रंग देने और उसे अधिक अन्तर्भाव-व्यञ्जक बनाने में प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय

और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अँगरेजी ढर्रा लिये हुए जिस प्रकार की फुटकल कविताएँ और प्रगीत-मुक्तक (लीरिक) बँगला में निकल रहे थे उनके प्रभाव में कुछ विशृङ्खल वस्तु-विन्यास लिये हुए अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यञ्जक भाषा में इनकी (गुप्त जी की) नये रंग की रचनाएँ संवत् १९७०–७१ से ही निकलने लगी थीं जिनमें से कुछ के भीतर रहस्यमय भावना भी रहती थी।" इस दृष्टि से देखने पर अंग्रेजी और बँगला से प्रभावित द्वितीय उत्थान-काल के इस रहस्यवाद के लिए भी क्या वही नहीं कहा जा सकता जो तृतीय उत्थान-काल के छायावाद के लिए शुक्ल जी कह गये हैं—"यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था।"

असल में शुक्ल जी की रुचि प्रबन्ध-काव्य की ओर थी, जिसमें कथा के वातावरण में अपने देश-काल की सामाजिक स्वाभाविकता का समावेश रहता था। पुराने गीतों में भी यही स्वाभाविकता मिल जाती थी। अतएव शुक्ल जी उन्हें तो पसन्द करते थे, किन्तु नये गीतों को प्रायः नापसन्द करते थे; क्योंकि उनमें सामाजिकता नहीं, मानसिक (काल्पनिक) सृष्टि रहती थी। शुक्ल जी काव्य में कल्पना का एकाधिकार नहीं चाहते थे।

शुक्ल जी ने द्वितीय उत्थान-काल में छायावाद के जिन कवियों का उल्लेख किया है उनमें सियाराम जी का नाम छूट गया है। असल में द्विवेदी-युग में छायावाद के आरम्भिक कवि ये हैं—जयशङ्कर 'प्रसाद', मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय। इस प्रसङ्ग में स्वर्गीय सहृदय कवि लक्ष्मण सिंह क्षत्रिय 'मयङ्क'

का भी नाम लिया जाता है। किसको प्राथमिकता दी जाय? इनकी रचनाओं का कालक्रम देखे बिना विचार करना सम्भव नहीं। यहाँ यह विचारणीय विषय भी नहीं है।

गुप्त जी और सियाराम जी में किसने गीतकाव्य की प्रेरणा पहले प्राप्त की, यह दोनों का रचना-काल देख कर निश्चित किया जा सकता है। सियाराम जी ने अपनी कविताओं का रचना-काल दिया है, गुप्त जी ने नहीं। 'नक्षत्र-निपात' (सन् १९१४) देखने से ज्ञात होता है कि गुप्त-बन्धुओं ने शायद एक साथ ही गीतकाव्य लिखना शुरू कर दिया था। यदि 'वैतालिक' का रचना-काल 'झङ्कार' के पहिले है तो सियाराम जी, गुप्त जी के बाद गीतकाव्य के क्षेत्र में आये। गुप्त जी खड़ीबोली में प्रबन्ध-काव्य की जब जड़ जमा चुके तब आरम्भ में सियाराम जी उन्हीं से पद्य की प्रेरणा प्राप्त कर दो-एक कृतियों के बाद ही गीतकाव्य की ओर अग्रसर हो गये और उनका नवीन रचना-काल 'झङ्कार' के आस-पास आ गया।

सियाराम जी रवीन्द्रनाथ से प्रभावित तो थे ही, 'झङ्कार' में गुप्त जी भी उन्हीं से प्रभावित जान पड़ते हैं। गुप्त-बन्धुओं की विशेषता यह है कि रवीन्द्रनाथ का प्रभाव ग्रहण करके भी उसे हिन्दी का हृदय और कण्ठ दे दिया है। उसमें एकदेशीय स्वाभाविकता आ गयी है। रवीन्द्रनाथ ने जैसे मध्ययुगीन वैष्णव और सन्त कवियों को अपनाया वैसे ही उस युग के कवि इस युग में आकर रवीन्द्रनाथ (नव्यपुरातन कवि) को अपना लेते तो उनके काव्य का वही स्वरूप होता जो गुप्त-बन्धुओं की कृतियों में है।

जीवन के स्थूल धरातल पर पद्य लिखनेवाले कवि में काव्य की कैसी सूक्ष्म अनुभूतियों का भी संस्कार ओझल था, यह 'झङ्कार' की इन अग्र-पंक्तियों से ही सूचित हो जाता है—

स्वर न ताल, केवल झङ्कार
किसी शून्य में करे विहार।

उस समय बाह्य जगत् में उसका जो भावुक हृदय मूक था वही 'झङ्कार' में मुखरित हुआ। खड़ीबोली के तृतीय उत्थान-काल (छायावाद-युग) में गुप्त जी ने गीतकाव्य को विशेष रूप से अपना लिया। 'साकेत' यदि द्विवेदी-युग में ही पूर्ण हो गया होता तो उसका क्या रूप होता, कहा नहीं जा सकता। नवम सर्ग में गीत-काव्य में ही प्रबन्ध-काव्य अधिष्ठित हो गया है। इसके बाद 'यशोधरा' और 'कुणाल' प्रबन्ध-काव्य न रह कर कथा-गीत हो गये। ऐसा जान पड़ता है कि द्विवेदी-युग के बाद गुप्त जी गीतकाव्य के द्वारा ही प्रबन्ध-काव्य को नवीनता देने का प्रयत्न करने लगे। 'द्वापर' में यही नवीनता है। इसके बाद किसी अंश तक 'यशोधरा' में और पूर्णरूप से 'कुणाल' में प्रबन्ध-काव्य और गीतकाव्य का पार्थक्य दूर हो गया।

काशी,
१९५४ ई०

पन्त का काव्य-जगत

२० मई, सन् १९५५ में कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त जी ने अपने जीवन के ५५ वर्ष पूरे कर ५६ वें वर्ष का आरम्भ किया। इस सदी के प्रथम वर्ष में ही उनका जन्म हुआ था। अपनी श्वास-शिराओं में पिछली शताब्दियों की ऐतिहासिक धड़कन और बीसवीं सदी का सामाजिक स्पन्दन और शिशु-सुलभ कोमल अन्तःकरण लेकर वे पृथ्वी पर नयी सृष्टि की तरह अङ्कुरित हुए थे। तबसे कितने वर्ष बीत गये; आज वे हमारे साहित्य के प्रौढ़ प्रतिनिधि हैं।

यह संयोग की बात है कि इस कवि का जन्म भारत के सांस्कृतिक गौरव हिमालय की गोद में हुआ। अलमोड़ा की शोभा-श्री कौसानी कवि की जन्मभूमि है जिसे गान्धी जी ने भारत का स्विटजरलैण्ड कहा था।

प्रकृति की उपासना

प्रकृति के क्रोड़ में उत्पन्न इस कवि ने छायावाद में प्रकृति की ही सूक्ष्म चेतना लेकर अपना काव्यारम्भ किया था। यों तो पन्त की सभी कृतियों में प्रकृति का नयनाभिराम चित्रण है, किन्तु प्रकृति की दार्शनिक आत्मा का अङ्कुरण 'वीणा' में, प्रस्फुटन 'पल्लव' में, उन्नयन इधर की कृतियों में हुआ।

बीसवीं शताब्दी वैज्ञानिक उत्कर्ष का युग है। यह युग प्रकृति

को पराजित करना चाहता है। किन्तु हिमाञ्चलवासी कवि पन्त ने प्रकृति का ही अञ्चल पकड़ कर उसी के साथ-साथ चलना और बढ़ना सीखा। अपनी दुधमुँही कृति 'वीणा' में कवि की शिशु-आत्मा ने मानों प्रकृति को ही माँ के स्थान पर सुशोभित करके कहा है—

तेरा अञ्चल पकड़-पकड़ कर
कहूँ—दिखा दे चन्द्रोदय।

पन्त की आत्मा हिमकन्या पार्वती है। प्रकृति की श्री पार्वती ने शिव की आराधना की थी, अपने सौन्दर्य को उसी के चरणों में समर्पित कर वह कृतकृत्य हो गयी थी। किन्तु पन्त की कवि-आत्मा चिरन्तन बालिका ही बनी रहना चाहती थी। 'वीणा' में कहा है—

इतनी बड़ी न होऊँ मैं,
तेरा स्नेह न खोऊँ मैं।

माँ की ममता का अन्यतम स्नेह-स्पर्श पाने के लिए, उसकी आत्मा का अतीन्द्रिय रूप जगाये रखने के लिए कवि सबसे छोटी बालिका बन जाना चाहता है—

मैं सबसे छोटी होऊँ,
तेरी गोदी में सोऊँ।

—('वीणा')

जीवन की सिद्धियों में लघिमा ही पन्त की काव्य-साधना थी। 'वीणा' के बाद उनकी तरुण कृति 'पल्लव' में भी इस साधना का भाव-जगत क्रीड़ा कर रहा है—

तुम जल-थल में अनिलाकार
अपनी ही लघिमा पर वार
करती ही बहुरूप विहार।

—('वीचि-विलास')

'अनिल' का तो कोई 'आकार' नहीं होता, किन्तु उसमें जो प्रकृति की सूक्ष्मप्राणता अथवा सूक्ष्म चेतना है वह अगोचर होने पर भी अपना अस्तित्त्व ('आकार') रखती ही है। उसी सूक्ष्मता को धारण करने के लिए (बहिर्जगत् में दृश्यमान करने के लिए) कवि ने बालिका के नन्हेपन की कामना की थी। सूक्ष्मदेही बालिका कवि की निरीह आत्मानुभूति की मानवी प्रतीक है। कवि ने प्राकृतिक प्रतीक भी लिये हैं, जैसे विहग-बालिका।

प्रश्न यह है कि उसने बालिका को ही अपना भाव-प्रतीक क्यों बनाया?

हमारे साहित्य में प्रकृति का पुरुष में विलय होता आया है। प्रकृति-पुरुष में क्या प्रकृति को स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं दिया जा सकता? छायावाद के काव्य में पन्त ने प्रकृति को यही स्वतन्त्र अस्तित्त्व दिया। उसकी सरलता और कोमलता को बालिका की लघिमा में ही अक्षुण्ण कर लिया।

सच तो यह कि पन्त ने ही हिन्दी-कविता में प्रकृति की प्रतिष्ठापना की है। विज्ञान और अध्यात्म की तरह प्रकृति की भी अपनी एक स्वतन्त्र फिलासफ़ी है, जिसे पन्त ने 'प्राकृतिक दर्शन'

कहा है। उसी दर्शन का दर्शनीय दृश्य-जगत् उनके छायावादकालीन काव्यों में है।

पुरुष (ब्रह्म) की आराधना से साधक जिस अध्यात्म की उपलब्धि करता है, वह कवि को प्रकृति (माया) की उपासना से ही आत्मसात् हो गया।

पञ्चभूतों में प्रकृति का जो वायव्य अंश है, उसी के कारण प्रकृति जड़ नहीं, सचेतन भी है। पन्त ने उसी सचेतन सत्ता को प्रकृति के सौन्दर्य और उल्लास में व्यक्त किया है। 'गुञ्जन' में एक गीत है—

> प्राण! तुम लघु-लघु गात!
> नील नभ के निकुञ्ज में लीन,
> नित्य नीरव, निःसंग, नवीन,
> निखिल छवि की छवि तुम छविहीन,
> अप्सरी-सी अज्ञात!

यह 'लघु-लघु गात' वही 'प्राण' (वायु) है, जिसे कवि ने 'पल्लव' के 'वीचि-विलास' में 'बहुरूप विहार' करते देखा था। वह 'अप्सरी-सी' अनुभवगम्य होते हुए भी 'अज्ञात' है, 'निखिल छवि की छवि' होकर भी 'छविहीन' (निराकार) है। इस वायव्य सत्ता में निर्गुण ही सगुण और सगुण ही निर्गुण है।

पन्त ने अपने काव्य में प्रकृति के इस अदृश्य अंश (वायव्य अंश) को ही जीवन्त किया है, सूक्ष्म को ही क्रीड़ाकलित किया है।

'पल्लव' की 'विश्व-वेणु' शीर्षक कविता में यही निर्गुण चेतना अपनी सगुण लीला का आभास दे रही है—

हाँ,—हम मारुत की मृदुल झकोर,
नील व्योम की अञ्चल-छोर;
बाल कल्पना - सी अनजान
फिरती रहती हैं निशि-भोर;
उर-उर की प्रिय, जग की प्राण!

.. .. ..

नभ की-सी निस्सीम हिलोर
डुबा दिशाओं के दस छोर,
हम जीवन - कम्पन सञ्चार
करतीं जग में चारों ओर
अमर, अगोचर, औ' अविकार।

कवि की काव्य-सुषमा मे प्रकृति का जो स्निग्ध व्यक्तित्व है उसीसे अनुरञ्जित होकर भाषा और पद-योजना भी मसृण हो गयी है।

भाव, भाषा और शैली की सुकुमारता के कारण पन्त की कविताओं पर स्त्रैणता का आरोप किया गया था। किन्तु उनकी कविताओं की अन्तरात्मा में जो एक नवीन जीवन-दृष्टि है, एक मौलिक काव्य-चेतना है, यदि उसे हृदयङ्गम किया जाता तो ऐसी रूढ़ि-संकीर्ण धारणा का परिमार्जन हो जाता। रमणीय अनुभूति और कांतासम्मित अभिव्यक्ति ही तो पन्त की कविताओं में नवीनता पा गयी थी।

द्विवेदी-युग में जब खड़ीबोली का प्रचार हुआ तब आरम्भ में वह गद्य-शुष्क थी। ब्रजभाषा के अनुरागी उसे कविता के लिए उपयुक्त भाषा नहीं मानते थे। किन्तु द्विवेदी-युग के बाद जब छायावाद-युग का आविर्भाव हुआ तब खड़ीबोली में भी काव्य की सरसता आ गयी। पन्त ने ही उसे ब्रजभाषा की तरह मधुर कोमल बना दिया। कालान्तर में पन्त की कविता नये-पुराने, सभी रुचि के पाठकों को रुच गयी।

'वीणा' से 'युगान्त' तक

द्विवेदी-युग से पन्त ने खड़ीबोली की प्रेरणा ही पायी थी, कविता का अन्तर्बाह्य निर्म्माण (भाव, भाषा, पद-विन्यास) उन्होंने अपने ही व्यक्तित्त्व से किया। 'वीणा' में उनकी कविता की तुतलाहट थी, 'पल्लव' में वह तुतलाहट तारुण्य से परिष्कृत और प्रस्फुटित हो गयी। खड़ीबोली का प्राञ्जलतम काव्य-विकास 'पल्लव' में ही हुआ।

'वीणा' में वात्सल्य था, 'पल्लव' में शृङ्गार प्रधान है। यद्यपि पन्त को शैशव के प्रति विशेष ममता है, वात्सल्य और शान्त रस में ही उनके हृदय को विश्राम मिलता रहा है, 'पल्लव' में भी कवि उसीके लिए लालायित है; तथापि वयोविकास के साथ-साथ कवि का रसात्मक क्षेत्र भी विस्तृत होता गया है। 'पल्लव' में रस और राग की कितनी विविधता है! उसमें शैशव का सारल्य भी है, तारुण्य का सौन्दर्य्य और प्रेम भी है, जिज्ञासु का आध्यात्मिक जीवन-चिन्तन भी है। भावों की इतनी विविधता में भी प्रकृति की

कमनीयता और काव्यकला की मनोहरता बनी हुई है। 'परिवर्त्तन' शीर्षक सुदीर्घ कविता में भी आध्यात्मिक चिन्तन रस-स्निग्ध हो गया है। निराला जी इसकी गणना विश्व-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में करते हैं।

'वीणा' के बाद 'पल्लव' में, 'पल्लव' के बाद 'गुञ्जन' में पीछे के काव्य-संस्कार कम होते गये हैं। 'गुञ्जन' में 'पल्लव' का शृङ्गार और जीवन-चिन्तन यद्यपि शेष है, तथापि उसमें यौवन का तारल्य प्रौढ़ता की शुष्कता की ओर चला गया है। 'पल्लव' के हरित-भरित शाद्वल-सौन्दर्य्य से सुरचित भाषा का लालित्य कम हो गया है, गद्यतत्त्व कुछ-कुछ उभर आया है।

'पल्लव' के बाद पन्त जी क्षयग्रस्त हो गये थे। उनकी अस्वस्थता ने किसी अंश तक सरसता का शोषण कर लिया। किन्तु प्रत्येक क्षति में कुछ उन्नति भी होती रहती है—'गुञ्जन' की भाषा अधिक सुदृढ़ एवं सुगठित हो गयी है, कण्ठ-स्वर अपेक्षाकृत ओजस्वी हो गया है। चिन्तन आध्यात्मिक होते हुए भी सामाजिक धरातल पर आ गया है।

'वीणा' और 'पल्लव'-काल में कवि भावना की आँखों से ही अग-जग को देखता रहा है, 'गुञ्जन' में अभाव की आँखों से भी जीवन और जगत् को देखने-समझने लगा। सच तो यह है कि अब उसमें 'वीणा' की अनजानता और 'पल्लव' की मुग्धता के बाद सृष्टि की उपभोग्यता का उद्रेक हो गया था।

प्रकृति से पन्त एकदम अध्यात्म की ओर बढ़ गये थे। समाज

बीच में छूट गया था। अपने ऐहिक अस्तित्व (पुरुष के लौकिक व्यक्तित्व) को पन्त आत्मविस्मृत करते रहे हैं। 'वीणा' और 'पल्लव' के मध्यकाल में ('ग्रन्थि', 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में) उनके ऐहिक अस्तित्व का एक अंश प्रणय में उद्वेलित होकर अवचेतन में सुप्त हो गया। इसी तरह आगे भी पार्थिव अभाव उझक कर अवचेतन में तिरोहित होते रहे, किन्तु कालान्तर में फिर प्रबल वेग से उमड़ कर ऊपर सतह पर आते गये। कवि अपनी अतृप्त वेदना को दार्शनिक सान्त्वना से परितोष देता रहा। 'गुन्जन' में भी आत्म-शान्ति का ऐसा ही प्रयास है। कवि कहता है—

जाने किस छल-पीड़ा से
व्याकुल-व्याकुल प्रति पल मन,
ज्यों बरस-बरस पड़ने को
हों उमड़-उमड़ उठते घन।
अधरों पर मधुर अधर धर,
कहता मृदु स्वर में जीवन—
बस, एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन-यौवन-धन!
पुलकों से लद जाता तन,
मुँद जाते मद से लोचन;
तत्क्षण सचेत करता मन—
ना, मुझे इष्ट है साधन।
रह-रह मिथ्या पीड़ा से
दुखता-दुखता मेरा मन,
मिथ्या ही बतला देती
मिथ्या का रे मिथ्यापन।

किन्तु कवि की वह पीड़ा मिथ्या नहीं थी। अपनी इकाई में कवि जिस पीड़ा का अनुभव कर रहा था, वह इस अभावग्रस्त युग का सार्वजनिक संकेत थी। युग की वास्तविकता कवि के सामने भी प्रत्यक्ष होने लगी थी। उसने 'गुञ्जन' में उसे भी प्रतिध्वनित किया है—

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से।

उस समय कवि के कण्ठ में साम्यवाद का स्वर प्रखर नहीं हो सका था, एक कोमल संवेदन के रूप में वह भी कवि का कलरव बन कर मुखरित हो गया था। 'गुञ्जन' में शान्त रस ही प्रधान बना रहा।

'गुञ्जन' के बाद 'ज्योत्स्ना' पन्त की नाट्यकृति है। यह एक स्वप्न-रूपक है। 'गुञ्जन' में पन्त को जिस पीड़ित मानव-जगत् का क्षीण आभास मिला था, वह इसमें घनीभूत हो गया है। किन्तु, कवि ने उसे कोई सार्वजनिक समाधान नहीं दिया है। रचना सब्जेक्टिव ही बनी रह गयी। युग की वास्तविकता के ऊपर चाँदनी का स्निग्ध आवरण डाल कर कवि ने भावना का साम्राज्य स्थापित किया है। ऐसा जान पड़ता है कि संक्रान्ति-काल में छायावाद के कवलित होने के पहले पन्त ने अपनी सम्पूर्ण भावानुभूतियों को 'ज्योत्स्ना' में संकलित कर दिया। यह उनका कला-

कोष है। इसमें उनके काव्य, संगीत, चित्र और शिल्प की सजीवता और मनोरमता देखी जा सकती है।

कविता और नाटक के अतिरिक्त पन्त ने कहानियाँ भी लिखी हैं। 'पाँच कहानियाँ' में उनके भाव-जगत का सामाजिक उपसंहार है। 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' में वे चिन्तनशील कवि थे, कहानियों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषक हैं। उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत वास्तविक हो गया है, फिर भी उनकी कहानियों को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। समाज की निर्मम नैतिक संकीर्णता को खण्डित करके उन्होंने आदर्शवाद को ही मानववाद के रूप में उदार बना दिया है। जीवन के एक अंग (प्रणय) को ही लेकर इन कहानियों की रचना हुई है। तब तक पन्त पर प्रगतिवादी राजनीति का प्रभाव नहीं पड़ा था, अतएव आर्थिक अभाव और सामाजिक अव्यवस्था का अनुभव करते हुए भी वे सुधारक साहित्यिक थे।

'पाँच कहानियाँ' के बाद 'युगान्त' नामक कविता-पुस्तक में पन्त के छायावादयुगीन साहित्य का पर्य्यवसान हो गया। अब वे पिछली सृष्टि का विध्वंस और नयी सृष्टि का अंकुरण चाहने लगे। उन्होंने कहा—

> द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
> हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क-शीर्ण !
> हिम-ताप-पीत, मधु वात-भीत,
> तुम वीतराग, जड़-पुराचीन !!

इस आक्रोश में कवि का कण्ठ क्रान्तिकारी हो गया है। 'पल्लव'-काल की जिस काव्यसृष्टि का क्रमशः ह्रास होता जा रहा

था, उसी की पतझड़ 'युगान्त' में है। ब्रजभाषा की पतझड़ के बाद द्विवेदी-युग की खड़ीबोली के गद्य का आविर्भाव और छायावाद का भाव-विकास हुआ था। अब कवि छायावाद की पतझड़ में फिर किसी नवीन गद्य-युग ('कंकाल-जाल') के आविर्भाव और उसके काव्य-विकास ('मांसल हरियाली') की शुभ कामना करता है—

कंकाल-जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव-लाली !
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली !

साहित्य के इस रूपान्तर में समाज के ऐतिहासिक रूपान्तर का संकेत गर्भित है। रूढ़ रीतियों की दृष्टि से मध्यकाल की ब्रजभाषा से लेकर छायावाद (रोमाण्टिसिज़्म) के विकास-काल तक का सामाजिक इतिहास सभी देशों, सभी सम्प्रदायों में एक-सा ही है। 'युगान्त' में पन्त ने मध्ययुग के उस रूढ़ समाज को ही समाप्त कर देने के लिए क्रान्ति का आह्वान किया है।

कहा जा सकता है कि 'वीणा' के बाद 'युगान्त' में कवि ने फिर नवीन शैशव धारण किया। 'वीणा' में जिस छायावाद का शैशव था वह उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी रोमाण्टिसिज्म (भावक्रान्ति) का शैशव था। 'युगान्त' का शैशव बीसवीं शताब्दी की विचार-क्रान्ति का शैशव है।

'युगान्त' के इस नये शैशव में भी 'पाँच कहानियाँ' के मानववाद और 'ज्योत्स्ना' के आत्मवाद के कारण कवि का भावात्मक संस्कार

(रोमैण्टिक संस्कार) बना रहा। इसीलिए 'वीणा' और 'ज्योत्स्ना' की बाल-प्रकृति के प्रतीक तारे, जुगनू, तितली, चिड़िया अब भी कवि की भावचेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। अन्तर यह है कि पहिले कवि प्रकृति की स्वर्गीय सृष्टि पर मुग्ध था, 'युगान्त' में मनुष्य के सौन्दर्य्य पर मुग्ध हो गया।

कवि ने सोचा—मनुष्य क्या प्रकृति के सौन्दर्य्य पर ही मुग्ध होता रहेगा, स्वयं कुरूप और कदर्थित ही बना रहेगा! अपना दिव्य निम्र्माण नहीं करेगा! वह कहता है—

> है पूर्ण प्राकृतिक सत्य! किन्तु मानव-जग!
> क्यों म्लान तुम्हारे कुञ्ज, कुसुम, आतप, खग?

मनुष्य में आत्मनिरीक्षण और आत्मविश्वास को जगाने के लिए ही कवि ने उसे प्रकृति से ऊँचा स्थान दे दिया।

प्रकृति और मनुष्य की शोभा-सुषमा का उद्गम कहाँ है? बाहर के इस आकर्षण का निम्र्माण-केन्द्र कहाँ है? 'तितली' से कवि ने यही प्रश्न किया है—

> चित्रिणि! इस सुख का स्रोत कहाँ
> जो करता नित सौन्दर्य्य-सृजन?
> 'वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर'—
> क्या कहती यही सुमन-चेतन?

प्रकृति तो भीतर से सजीव है ही, मनुष्य भी भीतर से सचेतन हो जाय, कवि का यही निर्देश है।

'युगान्त' में कवि ने जिस क्रान्ति का आह्वान किया है वह मनुष्य की आभ्यन्तरिक क्रान्ति है। 'ज्योत्स्ना' में भी तामसिक

ओर सात्त्विक वृत्तियों के अन्तर्द्वन्द्व में इसी क्रान्ति का संकेत है। इसके बिना राजनीतिक क्रान्ति केवल एक जड़-संघर्ष रह जाती है।

'युगान्त' में भी आत्मा छायावाद की ही है। आत्मा (अन्तश्चेतना) तो चिरन्तन है, केवल शरीर (समाज) ही बदलता रहता है। 'युगान्त' में कवि की आत्मा नये शरीर में पुनर्जन्म के लिए उद्बुद्ध है, पुराने समाज से उसका असन्तोष प्रखर हो गया है। कवि मनुष्य से कहता है—

प्रखर नखर नवजीवन की लालसा गड़ा कर
छिन्न-भिन्न कर दे गतयुग के शव को दुर्द्धर!

यह गतयुग का शव रूढ़ रीतियों में निष्प्राण वैराग्यमूलक मध्ययुगीन समाज है। मनुष्य की लोकान्तरित चेतना को इहलोक की ओर प्रेरित करने के लिए कवि उसमें जीवन का अनुराग जगाता है—

जीवन का फल, जीवन का फल!
यह चिरयौवन-श्री से मांसल!
इसकी मिठास है मधुर प्रेम,
औ' अमर बीज चिर विश्व-क्षेम!
जीवन का फल, जीवन का फल!
इसका रस लो,—हो जन्म सफल!
तीखे, चमकीले दाँत चुभा
खाओ इसको, क्यों रहे लुभा?

'गुञ्जन' में कवि जिस दार्शनिक अनासक्ति से पीड़ित था, यह उसी की तीव्र प्रतिक्रिया है।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या'

पार्थिव जीवन के प्रति आसक्त होकर भी कवि भौतिकवादी नास्तिक अथवा निश्चेतन जड़वादी नहीं है। वह चेतन आत्मा की स्थापना के लिए ही नया भौतिक शरीर धारण करना चाहता है। 'युगान्त' के बाद 'युगवाणी' में कवि ने कहा है, आत्मा ही देह बन जाय, चेतना ही साकार हो जाय—

आत्मा ही बन जाय देह नव,
ज्ञान ज्योति ही विश्व-स्नेह नव,
हास, अश्रु, आशाऽकांक्षा
बन जायँ खाद्य मधु, पानी।
युग की वाणी।

कवि का अभिप्राय इन शब्दों में और भी स्पष्ट हो जाता है—

अन्तर जग ही बहिर्जगत्
बन जावे, वीणापाणि, इ!
युग की वाणी!

'युगवाणी' में आत्मा और देह की जिस एकरूपता की आकांक्षा है, वह 'ज्योत्स्ना' में पहिले भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के सामञ्जस्य के रूप में व्यक्त हुई है। वेदव्रत कहता है—"पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पञ्जर में मूत या जड़-विज्ञान के रूप-रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्म्माण किया।"

'ज्योत्स्ना' में कवि ने अध्यात्म और जड़वाद को एक सैद्धान्तिक

दृष्टि से ही देखा था, उसे व्यावहारिक रूप नहीं दे सका था। यों कहें, उसका आर्थिक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका था। इसीलिए 'ज्योत्स्ना' और 'युगान्त' में कवि का असन्तोष सांस्कृतिक स्तर पर ही था। 'युगवाणी' में वह राजनीतिक स्तर पर भी आ गया। उसकी आत्मा ने मार्क्सवाद का भौतिक शरीर धारण कर लिया। 'युगान्त' में जो कुछ सत्य-शिव-सुन्दर शेष था (जैसे 'बापू'), उसी ने 'युगवाणी' में पुनर्जन्म ले लिया।

'पल्लव' का प्रकृति-विहारी कवि 'युगवाणी' से यन्त्र-युग में प्रवेश करता है। उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो गया है। छायावाद-युग में जिस कवि ने प्रकृति को शीर्षस्थान दिया था, 'युगवाणी' में उसी कवि के कण्ठ से यह सुनाई पड़ता है—

मानव-जीवन, प्रकृति-सञ्चलन में
विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर, उसने की
विश्व-सभ्यता स्थापित।

प्रकृति को विजित कर जैसी सभ्यता स्थापित होगी, उसका परिचय कवि की इस शुष्क भाषा से मिल जाता है।

क्या सचमुच प्रकृति को पराजित कर विश्व-सभ्यता स्थापित हो सकेगी? 'युगवाणी' में पन्त ने सौन्दर्य्य, संस्कृति, कला का मार्म्मिक भावचित्र प्रकृति के प्रतीकों से ही अङ्कित किया है, वैज्ञानिक युग के यान्त्रिक प्रतीकों से नहीं।

काव्यकला की दृष्टि से कवि ने 'युगवाणी' को गीत-गद्य कहा

मिलने लगा था, वही 'युगान्त' में पद्य और 'युगवाणी' में गीतगद्य के रूप में प्रत्यक्ष हुआ।

सैद्धान्तिक अथवा बौद्धिक निरूपण के कारण 'युगवाणी' के काव्यचित्रों को पन्त जी ने 'विचार-चित्र' कहा है। किन्तु 'युगवाणी' में भावचित्र ही अधिक हैं। गद्य का थोड़ा-बहुत प्रभाव भाषा, छन्द और विचार पर पड़ा है, किन्तु दोष के साथ ही इससे काव्य में कुछ विशेषता भी आ गयी है। 'पल्लव' की कोमल तूलिका सशक्त हो गयी है। छायावाद की जिस सरस काव्य-कला का 'युगान्त' से अन्त हुआ, उसका सुगठित नव-सृजन 'युगवाणी' से हुआ। इसमें भविष्य का रोमाण्टिसिज़्म है, भावी समाज के जीवन-सौन्दर्य्य का भावोन्मेष है।

'युगान्त' में कवि ने युग-गायक कोकिल से कहा था—

रच मानव के हित नूतन मन
वाणी, वेश, भाव नव शोभन

'युगवाणी' में भी यही सदिच्छा है—

संस्कृत वाणी, भाव, कर्म्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जनवास, वसन, सुन्दर तन।

इसी सुन्दर सुसंस्कृत जीवन के निम्मांण के लिए कवि ने मनुष्य को उत्साहित किया है—

रम्य रूप निम्मांण करो हे
रम्य वस्त्र परिधान,
रम्य बनाओ गृह, जनपथ को,
रम्य नगर, जनस्थान।

'युगान्त' और 'युगवाणी' का कवि जिस रम्य निर्म्माण की मनोकामना करता है, वह अभी समाज में पूर्णतः मूर्त्त नहीं हो सका है। केवल नर-नारी के रूढ़ सम्बन्धों में सामयिक जागृति आ गयी है। कवि ने इसी ओर विशेष ध्यान दिया है। उसने नारी को लोक-चेतना का प्रतीक बना कर अपने अभीष्ट समाज का कुछ आभास दिया है।

सुसंस्कृत रुचि को जब सामाजिक जीवन का सक्रिय दृष्टान्त नहीं मिलता तब कवि या तो चिन्तनशील हो जाता है या स्वप्न-दर्शी। 'गुञ्जन' से लेकर 'युगवाणी' तक पन्त का ऐसा ही द्विविध व्यक्तित्त्व है। चिन्तन अथवा विचार-चित्र के कारण उनकी रचनाएँ यथास्थल गरिष्ठ हो गयी हैं।

क्या 'पल्लव' की 'परिवर्त्तन'-शीर्षक कविता की तरह कोई भी विचार भाव नहीं बन सकता ?

'युगवाणी' के बाद 'ग्राम्या' में पन्त को आधुनिक युग के पूर्व का एक निर्म्मित समाज मिला। यह ग्रामीण समाज प्रकृति के प्रांगण में प्राणान्वित हुआ था। भविष्य के अमूर्त्त समाज की अपेक्षा एक प्रत्यक्ष चित्रपट (सामाजिक चित्रपट) पाकर पन्त की भावात्मक प्रतिभा फिर स्फूर्त्त हो गयी। प्रकृति के चित्रकार ने गाँवों की नैसर्गिक शोभा और उसी से निःसृत गान, वाद्य, नृत्य को बड़ी सजीवता से ज्यों-का-त्यों जीवन्त कर दिया है। छायावाद का कवि भी कितना सहज सरल हो सकता है, यह 'ग्राम्या' में देखा जा सकता है।

'युगवाणी' में पन्त जी यद्यपि मार्क्सवादी थे, किन्तु उन्होंने आधुनिकता को महत्त्व नहीं दिया था। यदि आधुनिकता में ही उन्हें अपने मन का मानव-समाज मिल जाता तो वे स्वप्नदर्शी क्यों होते ? इस युग की नर-नारियों को 'धिक् मैथुन-आहार-यंत्र' कह कर उन्होंने भर्त्सना की है। अपने अभीष्ट युग का व्यक्तित्व उन्हें 'ग्राम्या' की श्रमजीविनी नारी (मजदूरनी) में मिला।

ग्रामीण जीवन को कवि ने बड़ी आत्मीयता और तन्मयता से चित्रित किया है, तथापि उसकी वर्त्तमान अवनति को 'बौद्धिक सहानुभूति' की दृष्टि से देखा है। फिर भी, 'ग्राम्या' 'युगवाणी' की तरह बौद्धिक विश्लेषण से बोझिल नहीं है, हार्दिक आकर्षण से रसोत्फुल्ल है। काव्यकला की दृष्टि से 'युगवाणी' के चित्रों में क्षिप्रता थी, 'ग्राम्या' के चित्रों में ललित धीरोदात्तता है।

पन्त की कृतियों में मार्क्सवाद का प्रमुख प्रभाव 'युगवाणी' पर ही पड़ा, 'ग्राम्या' में वह प्रभाव कम हो गया है। 'युगवाणी' गान्धी-वाणी भी तो हो सकती है। 'ग्राम्या' में पन्त ने 'बापू', 'अहिंसा', 'चरखा', 'भारतमाता' इत्यादि कविताओं में अपनी सांस्कृतिक आत्मा को अभिव्यक्त किया है। यद्यपि गान्धीवाद के प्रति वे प्रश्न-सजग भी हैं, तथापि उनकी स्वाभाविक श्रद्धा जीवन के भावात्मक सत्य की ओर ही है। 'ग्राम्या' में वे फिर भाव-जगत के लिए लालायित हो गये हैं। प्रकृति की जीवन्त सृष्टि की ओर देख कर कहते हैं—

वहीं कहीं, जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ,
मानव-जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊँ।

क्या यह पन्त का पलायन है? एकान्त को चाहना ही तो पलायन नहीं कहा जा सकता।

'ग्राम्या' के बाद पन्त ने नटराज उदयशङ्कर की कला-मण्डली के साथ भारत-भ्रमण किया। प्रवास के इस आयास को उनका सुकुमार शरीर झेल नहीं सका; वे दिल्ली में टायफायड से जर्जरित हो गये। शरीर के कुछ स्वस्थ हो जाने पर मद्रास चले गये। इसी प्रवास में उन्हें अरविन्द के जीवन-दर्शन और उनके आश्रम के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उनके दृष्टिकोण में आमूल परिवर्त्तन हो गया। मार्क्स और गान्धी, दोनों उन्हें अपूर्ण जान पड़ने लगे; दोनों का विलय अरविन्द के योग-तत्त्व में हो गया।

नयी रचनाएँ

'ग्राम्या' के बाद इधर के थोड़े वर्षों में पन्त ने इतना लिखा है जितना 'पल्लव' के बाद के रचना-काल में नहीं लिखा। वे निरन्तर लिखते जा रहे हैं। 'पल्लव' के बाद की अस्वस्थता ने जैसे उनकी भाषा का सौन्दर्य्य कुछ कम कर दिया था, वैसे ही 'ग्राम्या' के बाद की अस्वस्थता ने भी भाषा का रस सोख लिया है। किन्तु बाहर से मांसल न होते हुए भी भीतर की अस्थियों में उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति सुदृढ़ हो गयी है। 'पल्लव' में ब्रजभाषा का-सा माधुर्य्य था, इधर की रचनाओं में खड़ीबोली का वह पौरुष है जिसका आरम्भ 'गुञ्जन' के गद्य-संस्कार में हुआ था और विकास 'युगवाणी' के ओज में।

यद्यपि 'पल्लव'-काल की कला-सुषमा (भाषा, भाव, और संगीत की समरसता) फिर पन्त की रचनाओं में नहीं आ सकी, तथापि 'युगान्त' में जिस छायावाद का ह्रास हो गया था उसका नवीन विकास 'ग्राम्या' के बाद की इन रचनाओं में हुआ। पहिले कवि प्रकृति का सौन्दर्य्य-दर्शन लेकर आया था, अब मनुष्य का अन्तर-दर्शन (चेतन अन्तःकरण) लेकर आया है। यह हिन्दी कविता में रोमाण्टिसिज़्म का पुनरुत्थान है। आज विश्वसाहित्य में ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी रोमाण्टिसिज़्म का आह्वान हो रहा है। दूसरे महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों और तीसरे महायुद्ध (अणु-युद्ध) के आशंकाजनक वातावरण में 'शान्ति-शान्ति' का नारा रोमाण्टिसिज़्म की ही पुकार है।

'ग्राम्या' के बाद कवि की अनुभूति में ही नहीं, बल्कि उसकी अभिव्यक्ति (शिल्प-विधि) में भी परिवर्त्तन हुआ है। 'युगवाणी' में कवि ने गीत-गद्य का प्रयोग किया था, इधर की रचनाओं (स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, युगपथ, रजत-शिखर, शिल्पी) में प्रबन्ध-काव्य, गीतकाव्य, गीतनाट्य (संगीत-रूपक) का प्रयोग किया है।

'पल्लव', 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' में पन्त जी गीत-कवि थे। गीत अब भी वे लिखते हैं। यद्यपि उनके इधर के सभी गीतों के छन्द, भाषा और अनुप्रास में पहले-जैसा सरल प्रवाह नहीं है, 'गुञ्जन' की किन्हीं चिन्तनशील रचनाओं की तरह अधिकांश गीत प्रगीत-मुक्तक बन गये हैं; तथापि जिन गीतों में अब भी भावना का तारल्य है उन गीतों में लालित्य है।

छायावाद-युग में पन्त जी कल्पना-प्रधान कवि थे। आचार्य्य शुक्ल जी ने उस युग की रचनाओं के सम्बन्ध में ('काव्य में रहस्यवाद' में) अपना यह विचार व्यक्त किया था—"छायावाद समझ कर लिखी जानेवाली कविताओं में प्रस्तुत व्यापारों की बड़ी लम्बी लड़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। सब मिला कर पढ़ने से न कोई सुसंगत और नूतन भावना मिलेगी, न कोई विचारधारा और न किसी उद्भावित सूक्ष्म सत्य के साथ भाव-संयोग, जिसका कुछ स्थायी संस्कार हृदय पर रहे। अतः, ऐसी कविताओं की परीक्षा करने पर उपमान वाक्यों के ढेर के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता।"

शुक्ल जी की रुचि प्रबन्ध-काव्यों की ओर थी। किन्तु काव्य में कल्पना के विकीर्ण चित्रों का भी अपना एक मनोहर आकर्षण है। 'पल्लव' में पन्त जी ने कल्पना के बिखरे चित्र भी दिये थे और भावना के सर्वाङ्ग सुसंघटित चित्र भी। 'गुञ्जन' से कल्पना और भावना के साथ चिन्तन का समावेश भी करने लगे। आगे की रचनाओं में चिन्तन को विशेष स्थान मिल गया।

कवि जब कल्पक और भावुक था तब वह अन्तर्मुख था, चिन्तन ने उसे लोकोन्मुख भी कर दिया। 'गुञ्जन' में चिन्तन भाव के साथ समाविष्ट नहीं, भाव के विश्लेषण के रूप में संश्लिष्ट है। यही काव्यक्रम 'ग्राम्या' तक चला आया। 'स्वर्णकिरण' से चिन्तन भाव के साथ समाविष्ट ही नहीं, बल्कि उसी में समाधिस्थ हो गया। यों कहें, कवि पहिले भाव को चिन्तन का रूप देता था, अब चिन्तन को ही भाव बना दिया।

बहिरन्तर जीवन की तारतम्यता ने कवि की रचनाओं में एक नैबन्धिक गुण उत्पन्न कर दिया। यह कवि के चिन्तन का ही सुपरिणाम है। 'स्वर्णकिरण' की कविताओं में निबन्ध-काव्य ने बहुत ही सुगठित रूप पाया है। विशेषकर 'स्वर्णोदय' शीर्षक कविता तो खड़ीबोली में अद्वितीय है।

पन्त की नैबन्धिक काव्य-कला ने ही उनके गीतनाट्यों (संगीत-रूपकों) में और भी विस्तृत चित्रपट (सामाजिक धरातल) पा लिया है। 'गुञ्जन' की अनुभूतियों ने जिस तरह 'ज्योत्स्ना' में मूर्त्तरूप पाया था उसी तरह 'उत्तरा' की चेतना ने 'रजत-शिखर' में व्यक्तित्त्व और 'शिल्पी' मे कर्त्तृत्त्व (युग-निर्म्माण) पा लिया है। आजकल जब कि एकांकी नाटकों का बाहुल्य हो गया है, पन्त के सङ्गीत रूपक नाटचक्षेत्र में नये टेकनिक का सूत्रपात करते हैं। नये कवि जब कि प्रयोगवाद की परिधि में खेल खेल रहे हैं, पन्त ने हिन्दी कविता को फिर एक नयी दिशा में मोड़ दिया है। उनके गीतनाट्य का अन्य कवियों ने अनुसरण किया है।

पन्त जी अपनी कलाकारिता में अत्यन्त जटिल भी हैं और अत्यन्त सुगम भी। यह बात 'स्वर्णकिरण' के बाद 'स्वर्णधूलि' देखने से स्पष्ट हो जाती है। 'युगवाणी' के बाद जैसे 'ग्राम्या' सहज रचना थी, वैसे ही 'स्वर्णकिरण' के बाद 'स्वर्णधूलि' है। 'ग्राम्या' में भाव और भाषा ग्रामीणों की ग्राम्य स्वाभाविकता तक पहुँच गयी थी, 'स्वर्णधूलि' में भाषा और संगीत की रोचकता सिनेमा के गीतों तक पहुँच गयी है। इसके बाद 'उत्तरा' के गीत भाव और भाषा की

दृष्टि से कितने गढ़ हो गये, सांस्कृतिक गीत बन गये। फिर उसकी भी सरलता 'युगपथ' में आ गयी। इसी तरह कला का विशिष्टीकरण और साधारणीकरण, दोनों ही पन्त की रचनाओं में हैं।

शिल्प की दृष्टि से पन्त जी फिर पीछे की ओर नहीं मुड़ सके, किन्तु भाव की दृष्टि से छायावाद-युग की ओर लौट पड़े। पहिले वे प्रकृति से मनुष्य, मनुष्य से यन्त्र की ओर गये थे; 'स्वर्णकिरण' से फिर प्रकृति की ओर प्रत्यावर्त्तन करने लगे। वैज्ञानिक युग से वेदों और उपनिषदों के युग की ओर चल पड़े। 'ज्योत्स्ना' में अध्यात्म और भौतिकवाद के सामञ्जस्य का जो निर्देश था, वही निर्देश वे अब भी करते हैं; किन्तु सम्प्रति पन्त मुख्यतः आध्यात्मिक कवि हैं।

'पल्लव'-काल में प्रकृति राधा और शकुन्तला थी, 'स्वर्णकिरण' में सन्ध्या और गायत्री है। यद्यपि दोनों एक ही नैसर्गिक वातावरण की उपज हैं, तथापि दोनों में भावना और मनीषा का अन्तर है। पन्त जी कोरे दार्शनिक नहीं, कवि-मनीषी हैं; इसीलिए मनीषा को भी उन्होंने प्रकृति के प्रतीकों और रूपकों से भावना का काव्य-मनोरम सौन्दर्य्य दे दिया है। पहिले जो प्रकृति मानवी थी, अब वह देवी हो गयी है, 'दिव्य चेतना की उषा' बन गयी है, उसके अधरों पर भविष्य के प्रकाशवान युग की आभा मुस्करा रही है।

काशी
१६।३।५५

महादेवी की मधुर वेदना

"उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते,
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते।"

—'नीहार'

मुझे भी तो महादेवी जी के गीत पढ़े कितने युग बीत गये। मेरी निरीह भावुकता के वे दिन!—दुनिया के सुख-दुख, शीत-ताप से अनुप्राणित मेरा नवमुकुलित जीवन!! अपनी ही मनोरम भावनाओं से संसार कितना सुहावना लगता था! स्वप्निल मन सौरभ और पराग की तरह किसी अतीन्द्रित लोक में विचरता रहता था।

ओह, कितने युग बीत गये! आज अपनी ये पंक्तियाँ याद आती हैं—

...किन्तु बिखर कर स्वर्ण मूर्ति-सा
मेरी शोभा का संसार
पतझड़ की सूनी पलकों में
दिवस-स्वप्न-सा पड़ा असार।

आज इतने वर्षों बाद मेरा ही जीवन नहीं, सम्पूर्ण विश्वजीवन भी क्या-से-क्या हो गया, युग कहाँ-से-कहाँ चला गया! साहित्य में यथार्थवाद तथा प्रगतिवाद आ गया।

काव्य को भी अब आर्थिक दृष्टि से देखा जाने लगा है। साहित्य और जीवन को देखने के लिए मेरा दृष्टिकोण भी आर्थिक

हो गया है। आर्थिक दृष्टिकोण स्वतः बुरा नहीं है, किन्तु वह स्वाभाविक होना चाहिये, कृत्रिम नहीं।

इस प्रगतिवादी युग का आर्थिक दृष्टिकोण मशीनी है। विज्ञान से जैसे शरीर को ही देखा जा सकता है, अन्तरात्मा को नहीं; वैसे ही मशीनी अर्थशास्त्र से देह को देखा जा सकता है, देही को नहीं। मेरा आर्थिक दृष्टिकोण नैसर्गिक है, उससे तन-मन दोनों का स्वस्थ उन्नयन होता है।

आर्थिक दृष्टिकोण से मेरा अभिप्राय उस औद्योगिक दृष्टिकोण से है जिसका प्रतीक हल-बैल और चरखा है। उसके बिना भाव-साधना बिना शरीर की आत्मा की तरह निराधार हो जाती है।

फ्रायडियन दृष्टिकोण

प्रगतिवाद जैसे अपने आर्थिक दृष्टिकोण में भौतिक है वैसे ही फ्रायड का मनोविज्ञान भी सर्वथा कायिक है। दोनों में जीवन केवल ऐन्द्रयिक व्यापार है, आत्मचेतना का सांस्कृतिक परिष्कार नहीं।

डॉ० नगेन्द्र ने महादेवी जी की 'दीपशिखा' पर फ्रायडियन दृष्टि से विचार करते हुए लिखा है—"दीपशिखा के गीतों की अनुभूति पार्थिव माने बिना काम नहीं चल सकता। उसका विश्लेषण करने पर तीन तत्त्व हमको मिलते हैं—१. जलने की भावना, २. विश्व के प्रति गीला करुणा-भाव, ३. और अज्ञात प्रिय का सङ्केत।...इनमें से तीसरे भाव के मूल में तो स्पष्टतः काम का स्पन्दन है ही; जलने की भावना में असन्तोष और अतृप्ति भावना भी अनिवार्य्य है। इन दोनों को अगर संयुक्त

कर दें तो पहला कारण और दूसरा कार्य्य हो जाता है। और वास्तव में सभी ललित कलाओं के—विशेषतः काव्य के और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के—मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिए स्थान नहीं है।"

अपने इसी दृष्टिकोण से 'साहित्य की प्रेरणा' शीर्षक लेख में 'क्रौञ्चवध' के सम्बन्ध में भी डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"यत्क्रौञ्च-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्। इसमें काम-मोहित अवस्था में क्रौञ्च के वध से उत्पन्न करुणा की प्रेरणा स्वीकृत की गयी है—साधारण वध से उत्पन्न करुणा की नहीं—अर्थात् इस करुणा में काम का अन्तरसूत्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा साहित्यकार यह जानता था कि करुणा और काम अर्थात् अभाव और आनन्द के संयोग से काव्य का जन्म होता है।"

प्राचीन साहित्य और उससे अनुप्रेरित रोमैन्टिक साहित्य को इस आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर क्या न्याय किया जा सकता है? उनका क्या अपना कोई दृष्टिविन्दु नहीं है? यह ठीक है कि काम ही सृष्टि की सृजन-प्रेरणा है, किन्तु वही तो जीवन की सम्पूर्ण दृष्टि नहीं है। अपने यहाँ शिव ने 'काम' को भस्म कर दिया था, ऐसा आत्मयोग विश्वसाहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। बाद में भले ही शिव भी पार्वतीशङ्कर हो गये हों, किन्तु यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति किसी अतीन्द्रिय साधना के आदर्श पर ही सुस्थित है, क्षुद्र देहधारियों की क्षणिक कायिक प्रवृत्तियों पर नहीं।

क्रौञ्चवध की बात लेकर हम विचार करते हैं तो देखते हैं

कि प्रतिदिन कितने ही क्रौञ्चवध ही नहीं, गोवध और मानव-वध होते रहते हैं, किन्तु कवि की तरह कितनों का हृदय उससे विगलित होता है ! काम के अतिरिक्त प्राणियों में कोई अन्य संवेदना भी है जिससे शेष सृष्टि के साथ उसकी सहानुभूति और आत्मीयता का मर्म्मोद्रेक होता है, इसे अहिंसा कहते हैं। इसी तरह अन्तःकरण की और भी अनेक उदात्त वृत्तियाँ हैं। वैज्ञानिक की अपेक्षा हम साहित्यकार से ही यह आशा करते हैं कि वह निम्न प्रवृत्तियों में ही मनुष्य की चेतना को अवरुद्ध और अधोमुख न कर दे। जीवात्मा की क्षमता असीम है, उसे आत्मविकास के विस्तृत क्षेत्र की ओर अग्रसर करना चाहिये। लक्ष्य ऊँचा नहीं रहेगा तो मनुष्य ऊपर उठेगा कैसे ? वह क्या सरीसृप ही बना रहेगा ?

डॉ० नगेन्द्र यद्यपि कहते हैं, 'मुझे आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में एकदम विश्वास नहीं है', तथापि वे यह मानते हैं कि 'एक ओर चित्तवृत्ति के संयम और निरोध से और दूसरी ओर उसकी एकाग्रता के अभ्यास से आत्मचिन्तन और रहस्यानुभूति सम्भव है।'

विराट पुरुष की प्रेयसी

महादेवी जी की कविताओं में अनुभूति तो है ही, किन्तु उसमें कला-पक्ष (अभिव्यक्ति) इतना प्रधान है कि हृदय-पक्ष (भाव-पक्ष) अत्यन्त अलङ्कृत हो गया है; वह सहज सुलभ नहीं रह गया है, रहस्य बन गया है। उन्होंने अपने एक गीत में कहा है—

रागभीनी तू सजनि निश्वास भी तेरे रँगीले !
झूलते चितवन गुलाबी में चले घर खग हठीले
रागभीनी तू सजनि निश्वास भी तेरे रँगीले !

सजनि नीलमरज भरे रँग चूनरी के अरुण पीले
रागभीनी तू सजनि निश्वास भी तेरे रँगीले !

—('सान्ध्यगीत')

महादेवी जी की वेदना उनकी कलाकारिता से ऐसी ही राग-भीनी और रंगीन हो गयी है, जो कि उनके सङ्गीत और चित्रमय रमणीक हृदय के लिए स्वाभाविक ही है। उनके गीतों में यत्र-तत्र अनेक नयनाभिराम चित्र झलक दे जाते हैं। इन चित्रों में किसी मानवी का नहीं, प्रकृति का शोभा-शृङ्गार है। या यों कहिये, मानवी ने अपने सीमित रूप का विमर्जन कर प्रकृति का दिव्य प्रसाधन, अलङ्करण और अभिसार पा लिया है। वह रूपसी नहीं, किसी विराट पुरुष की प्रेयसी हो गयी है। कैसी है उसकी शृङ्गारिक सुषमा! उसके अङ्गों में 'चाँदनी का अङ्गराग' है, माँग में 'पराग' का सिन्दूर है। मस्तक पर 'झिलमिल तारों की जाली' है। किन्तु जीवन के शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष की तरह उसका परिधान बदलता रहता है। तम जिसके दुख का प्रतीक है वह अपने जीवन के कृष्ण-पक्ष में अनुभव करती है—

तम ने इन पर अञ्जन से
बुन-बुन कर चादर तानी,
इन पर प्रभात ने फेरा
आकर सोने का पानी।

—('नीहार')

तम की चादर में 'सोने का पानी' वेदना के सुहाग का सुखद प्रतीक है।

जीवन के शुक्ल पक्ष (सौख्य पक्ष) में वह प्रकृतिरूपा प्रेयसी कहती है—

शशि के दर्पण में देख देख
मैंने सुलझाये तिमिर-केश;
गूँथे चुन तारक-पारिजात,
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष;
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृङ्गार नहीं?
—('सान्ध्यगीत')

हृदयोल्लास

महादेवी जी की कविताओं में प्रकृति के चित्र प्रायः उनकी रागवृत्तियों से संश्लिष्ट और अनुरञ्जित हैं। कहीं-कहीं प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र भी सजीव रूप में अंकित हैं।

अत्यधिक वेदना के कारण प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रों की तरह ही उनकी कविताओं में जीवन के उल्लसित चित्रों का भी अभाव है। किन्हीं विरल क्षणों में उनके कवि-हृदय को प्रकृति पुलकित भी कर गयी है। वसन्त ऋतु उन्हें विशेष प्रिय जान पड़ती है। कहती हैं—

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु बयार!
... ...
कण्टकित रसालों पर उठता—
है पागल पिक मुझको पुकार
लहराती आती मधु बयार!
—('सान्ध्यगीत')

'नीरजा' के इस गीत में उन्होंने पूर्ण प्रसन्नता से वसन्त-रजनी का स्वागत किया है—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त - रजनी !
... ...
सिहर-सिहर उठता सरिता-उर,
खुल-खुल पड़ते सुमन सुधा-भर,
मचल मचल आते पल फिर-फिर
सुन प्रिय की पद-चाप हो गयी
पुलकित यह अवनी !
सिहरती आ वसन्त-रजनी !

करुणा का माङ्गल्य

किन्तु सुख में महादेवी जी आत्मविस्मृत नहीं हो जातीं, उन्हें करुणा में ही सुख का माङ्गल्य दिखाई देता है। तभी तो वे मानों ब्रजबाला से कहती हैं—

जग ओ मुरली की मतवाली !
दुर्गम पथ हो ब्रज की गलियाँ,
शूलों में मधुवन की कलियाँ;
यमुना हो दृग के जलकण में,
वंशी-ध्वनि उर की कम्पन में;
जो तू करुणा का मङ्गल घट ले
बन आवे गोरसवाली !
जग ओ मुरली की मतवाली !

—('नीरजा')

महादेवी जी की वेदना सूफी है, उपासना वैष्णवी, करुणा बौद्ध। बौद्ध दर्शन से ही उनके जीवन को शान्ति मिली है। आराध्य

को वे बुद्ध के पदचिह्नों पर अग्रसर देखना चाहती हैं। कहती हैं—

जाग बेसुध जाग !
अश्रुकण से उर सजाया त्याग हीरक-हार
भीख दुख की माँगने फिर जो गया प्रति द्वार;
शूल जिसने फूल छू चन्दन किया सन्ताप
सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पद-चाप;
करुणा के दुलारे जाग !
—('नीरजा')

अभिव्यक्ति और अनुभूति

महादेवी जी अपने काव्यचित्रों में प्रायः रूपक का उपयोग करती हैं। गीत की एक टेक उनके मन में उठती है, वही अन्तरा बन कर चित्रफलक (चित्तपटल) पर फैल जाती है। कल्पना उनकी भावना का पूर्णतः साथ नहीं दे पाती, इसीलिए चित्र उभर आता है, शिल्प में समा नहीं जाता। साङ्ग रूपक में कोई-कोई खण्डचित्र ही सुविन्यस्त हो सका है। ऐसा जान पड़ता है कि 'नीहार' से 'सान्ध्यगीत' तक वे अपनी काव्यकला (भाषा, पदयोजना, अनुप्रास, चित्रकारिता) को साधती रही हैं। 'दीपशिखा' में वह पूर्णतः सध गयी है। उसमें उनकी अनुभूति, अन्तर्दृष्टि तथा काव्यकला, सब कुछ सुसङ्गठित और समवेत हो गयी है। 'दीपशिखा' हिन्दी-गीत-काव्य की अमूल्य निधि है।

डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में महादेवी जी की अनुभूति और अभिव्यक्ति इतनी परिमित एवं सीमित है कि उनके गीतों में पुनरावृत्ति होने लगती है। प्रत्येक व्यक्तिगत रचना में ऐसा होना स्वाभाविक

है। व्यक्ति के जीवन में उसके एकान्त की तरह ही एकरसता आ जाती है। उसमें वह विविधता नहीं होती जो जन-समूह के संयोजन में होती है। आत्मोन्मुख रचना में एक निश्चित ध्वनि ही प्रति-ध्वनि बन कर परिक्रमा करती रहती है। जैसा कि प्रसाद जी ने 'आँसू' में कहा है—

आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती बिलखाती-सी
पगली-सी देती फेरी ?

एकान्त अनुभूति की यही परिक्रमा सूर और तुलसी की 'विनय-पत्रिका' में भी है। भाग्यभीरु जनता उनके पदों को बार-बार गुनगुनाते हुए भी नहीं ऊबती, क्योंकि धार्म्मिक दृष्टि से उन पदों में व्यक्ति की अनुभूति सबकी दैवी शरणागति बन गयी है। ऐसी रचनाओं से अभिन्न हो जाने के लिए एक-सी मनःस्थिति अपेक्षित है।

वेदना और आराधना

महादेवी जी की वेदना आध्यात्मिक है अथवा शृङ्गारिक? कला का रूप-रङ्ग लेकर कोई कवि कोरा आध्यात्मिक नहीं रह जाता। आकर्षण और अनुराग उसे माधुर्य्य भाव का उपासक बना देता है। आलम्बन-भेद से उसकी उपासना आध्यात्मिक अथवा शृङ्गारिक हो जाती है। निर्गुण सन्तों की अनुभूति सर्वथा आध्या-त्मिक थी। उसमें उपासना नहीं, समाधि थी। सूर-तुलसी उपासक थे, उन्होंने अध्यात्म और शृङ्गार के मेल से उपासना को सगुण बना दिया। रीतिकालीन कवियों ने यद्यपि धार्म्मिक संस्कार-वश सगुण की परम्परा भी ग्रहण की, तथापि वे मुख्यतः शृङ्गारिक

कवि थे; रसिक मधुप थे। द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के कवियों में गुप्त जी, हरिऔध जी और महादेवी जी ने पुनः सगुण-काव्य का प्रतिनिधित्व किया।

महादेवी जी कृष्ण-शाखा की आधुनिक कवयित्री हैं, इसीलिए उन्हें मीरा के साथ स्मरण कर लिया जाता है। 'नीहार' में यत्किञ्चित निर्गुण आत्मदर्शन का भी आभास मिलता है। यथा—

घूँघट पट से झाँक सुनाते
ऊषा के आरक्त कपोल,
'जिसकी चाह तुम्हें है उसने
छिड़की मुझ पर लाली घोल।'

इस उद्गार के साथ कबीर की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली ढूँढ़न मैं चली मैं भी हो गइ लाल॥

महादेवी जी ने भी कुछ ऐसी ही तद्रूपता का अनुभव किया होगा, तभी तो बाहर के रङ्गजगत को अपने भीतर समेट कर उन्होंने कहा था—

यह कैसी छलना निर्म्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार!
तुम मन में हो छिपे मुझे
भटकाता है सारा संसार।

यद्यपि निर्गुण (चेतन) में ही महादेवी जी अपने मन का केन्द्रीकरण कर लेना चाहती हैं तथापि उनकी आराधना सगण भाव की है, तभी तो उनके गीतों में विरह और आत्मनिवेदन है।

निर्गुण में अद्वैत है, सगुण में द्वैत। महादेवी जी अपनी विकलता को राधा और विरह को आराध्य का रूप देकर अद्वैत का अनुभव कर लेना चाहती हैं—

आकुलता ही आज हो गयी तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य, द्वैत क्या कैसी बाधा!

—('सान्ध्यगीत')

किन्तु चाहे भावरूप में हो, चाहे सदेह रूप में; जहाँ विरह है वहाँ अद्वैत हो ही नहीं सकता। सच तो यह कि अद्वैत में विरह-मिलन कुछ भी नहीं रह जाता। विरह-मिलन का आध्यात्मिक रूपक सूफ़ी दर्शन में मिलता है, इसीलिए मुस्लिम कवियों ने भी कृष्ण की उपासना की। महादेवी जी पर भी सूफ़ी दर्शन का प्रभाव पड़ा है। उनकी आराधना का स्वरूप इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

जो तुम आ जाते एक बार!
कितनी करुणा, कितने संदेश,
पथ में बिछ जाते बन पराग;
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग-भरा उन्माद-राग।
आँसू लेते वे पद पखार!

—('नीहार')

आराध्य यदि अद्वैत का अन्तर्यामी होता तो ऐसी विकल-विह्वल प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। किन्तु महादेवी जी द्वैत और अद्वैत दोनों लेकर चली हैं। कहती हैं—

"रहस्य-भावना के लिए द्वैत की स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव में विरह की अनुभूति असम्भव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार खो देती है।"

महादेवी जी का आराध्य चाहे परमात्मा हो, चाहे प्रियतम; इससे उनकी साधना और तपश्चर्य्या का महत्त्व कम नहीं होता। किसी भी रूप में उनका आत्मोत्सर्ग चित्तवृत्तियों को उज्ज्वल और उदात्त बनाता है। उन्होंने अपनी मधुर वेदना (विरह-वेदना) को अतृप्ति और करुण शान्ति की दिव्य ज्योति से दीप्तिमान कर दिया है। उनकी एक अपनी फिलासफ़ी है। उसी के अनुरूप उन्होंने हिन्दी-कविता को एक विशेष भाषा और शैली दी है, जो उनकी रचनाओं में क्रमशः प्राञ्जल और परिपुष्ट होती गयी है।

'नीहार' में मादक उन्माद था, जो सूफी प्रेमोपासना का तीव्र राग है। 'रश्मि' में भारतीय दर्शन के प्रभाव से चिन्तन की गम्भीरता आ गयी, यही कारण है कि बाद की रचनाओं के काव्यचित्रों में आर्य्योचित सुण्ठता है। फिर भी मुस्लिम भावुकता की तीव्रता किसी अंश तक बनी हुई है। कहा जा सकता है कि 'चिनगारियों का मेला' और दीपक की तरह जलना, मोम की तरह घुलना, यह प्रेम की अभारतीय अभिव्यक्ति है। मध्यकालीन हिन्दी-कविता पर भी इसका प्रभाव पड़ा है, चाहे वह भक्ति-काल की हो, चाहे रीतिकाल की। अपने यहाँ तो हिमालय है, वह सुख-दुख सब कुछ शुभ्र, शान्त और शीतल कर देता है। महादेवी जी की चेतना भी ज्वाला में

ही सीमित नहीं है, तभी तो उनके मन में यह जिज्ञासा उठती है—
'अग्निपथ के पार चन्दन-चाँदनी का देश है क्या ?'

साधना का स्वरूप

महादेवी की कविता का आरम्भ वहाँ से समझना चाहिये जहाँ से कृष्ण राधा को विरह में छोड़ कर चले जाते हैं। जीवन की इसी पृष्ठभूमि पर महादेवी के कण्ठ से मानों विरहिणी राधा कहती है—

पाथेय मुझे सुधि मधुर एक
है विरह पन्थ सूना अपार !

—('सान्ध्यगीत')

जो प्रियतम चला गया, उसकी प्रतीक्षा बनी ही रह गयी, वह फिर लौट कर नहीं आया। केवल स्मृति में ही जो शेष रह गया, वह निर्गुण न होते हुए भी विरह की कैसी सूक्ष्म अनुभूतियाँ जगा गया, सी का परिचय महादेवी के गीतों में मिलता है। गोपियों ने विरह की साधना को स्वीकार नहीं किया, निर्गुण की तरह वह भी उन्हें अटपटी जान पड़ती थी; किन्तु महादेवी के लिए उसी की साधना सिद्ध हो गयी। कहती हैं—'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ !'

विरह की तरह ही उनका प्रियतम भी चिरन्तन है—

प्रिय चिरन्तन है सजनि
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं !

... ...

सजल सीमित पुतलियाँ पर चित्र अमिट असीम का वह
चाह एक अनन्त बसती प्राण किन्तु ससीम-सा यह;

रजकणों में खेलती किस
विरज विधु की चाँदनी में ?
—('सान्ध्यगीत')

एक विरहिणी की सभी मन:स्थितियों का परिचय मीरा और महादेवी के गीतों म मिलता है। तन्मयता के क्षणों में वे कहती हैं—

अलि, कहाँ सन्देश भेजूं ?
मैं किसे सन्देश भेजूं ?
—('दीपशिखा')

कभी जीवन-मरण की घड़ियों में अनुभव करती हैं—

श्वासें कहतीं 'आता प्रिय'
निश्वास बताते 'वह जाता'।
—('नीरजा')

कभी आशान्वित होकर सोचती हैं—'मुस्काता सङ्केत-भरा नभ अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?'

महादेवी जी ने अपने गीतों में मिलन-विरह का जो प्रणय-रूपक बाँधा है वह सगुण रूप में प्रत्यक्ष जगत से सम्बद्ध होते हुए भी उनके परोक्ष अन्तर्जगत का चित्राभास है। कहती हैं—

नामों में बाँधे सब सपने,
रूपों में भर स्पन्दन अपने,
गों के ताने-बाने में
बीते क्षण बुन डाले।
—('दीपशिखा')

दृश्यजगत ही उनकी सीमा नहीं है। वे अपनी अन्तरात्मा को यह प्रभाती सुनाती हैं—'जाग तुझको दूर जाना।' इसीलिए वे

अपनी दृष्टि को सीमा की परिधि के पार तक ले जाना चाहती हैं। उद्विग्न होकर कहती हैं—

फिर विकल हैं प्राण मेरे

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है !
जा रहे जिस पन्थ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे ?

—('सान्ध्यगीत')

शरीर की तरह ही सीमित अस्तित्व में उनकी चेतना मुक्ति के लिए तड़फड़ा कर बोल उठती है—

कीर का प्रिय आज पिञ्जर खोल दो !
हो उठी हैं चञ्चु छूकर
तीलियाँ भी वेणु सस्वर;
वन्दिनी स्पन्दित व्यथा ले,
सिहरता जड़ मौन पिञ्जर;
आज जड़ता में इसी की बोल दो !

—('सान्ध्यगीत')

चेतना की इसी मुक्ति के लिए उनका जीवन दीपक की तरह मधुर-मधुर जल कर आत्मनिर्वाण कर रहा है। मृण्मय ही चिन्मय बन रहा है। बाहर की सम्पूर्ण सृष्टि उसी लौ में लवलीन है। कहती हैं—

स्वर-प्रकम्पित कर दिशाएँ,
मीड़ सब भू की शिराएँ,
गा रहे आँधी - प्रलय
तेरे लिए ही आज मङ्गल।

—('दीपशिखा')

यह कैसी विकट साधना है ! किन्तु महादेवी जी में दृढ़ आत्म-विश्वास है, तभी तो वे कठिनाइयों को चुनौती देते हुए कहती हैं—

अन्य होंगे चरण हारे
और हैं जो लौटते दे शून्य को सङ्कल्प सारे

—('दीपशिखा')

गीतों के संक्षिप्त आयतन में महादेवी जी की अनुभूति का क्षेत्र बहुत विशाल है। उनकी भाव-सृष्टि असाधारण है, उनका प्रियतम असाधारण है, उनकी वेदना असाधारण है।

इस जीवन्मृत युग में जब कि चारों ओर अवसाद और विषाद छाया हुआ है, कहीं से भी प्राणों को उल्लास का प्रस्फुरण नहीं मिल रहा है, क्या वह कवि की असाधारण वेदना को शिरोधार्य्य कर सकता है ? देवी महादेवी जी से उन्हीं के शब्दों में अनुरोध है—

दुलरा दे ना बहला दे ना
यह तेरा शिशु जग है उदास !

काशी,
१९—८—५५

छायावाद के बाद

वर्त्तमान हिन्दी-कविता का सर्वोच्च विकास छायावाद में हुआ—भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से छायावाद के बाद खड़ीबोली की कविता का क्रमशः पतन होने लगा। निराला, पन्त, महादेवी ने काव्य में जो आत्मनिर्म्माण किया था साधना की उस ऊँचाई तक फिर कोई कवि नहीं उठ सका। 'बच्चन' इत्यादि ने उर्दू-शायरी के प्रभाव से और 'दिनकर' इत्यादि ने राष्ट्रीय काव्य के प्रभाव से कला की व्यञ्जकता बनाये रखने का प्रयत्न किया। किन्तु हमारे जीवन की ही तरह जब हमारा साहित्य भी अपनी ही परम्परा और अपने ही देश की सीमाओं में आत्मस्थ नहीं रह सका तब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तरह साहित्य में अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा का भी प्रभाव पड़ने लगा। वर्त्तमान वातावरण में प्रगतिवाद अपेक्षाकृत अधिक जीवन और सामाजिक संवेदन बन कर साहित्य में आ गया। यद्यपि प्रगतिवाद के कारण काव्य के लालित्य में श्रीवृद्धि नहीं हो सकी और सच तो यह कि जब जीवन ही लालित्य-शून्य होता जा रहा है तब साहित्य में उसकी आशा कहाँ तक की जा सकती है!

प्रगतिवाद ने साहित्य को काव्य से गद्य की ओर मोड़ दिया। इसके बाद प्रयोगवाद ने छायावाद की सरसता और प्रगतिवाद की वास्तविकता के सम्मिश्रण से साहित्य में नवीन काव्य-प्रयास प्रारम्भ

किया। यहाँ तक तो अनेक मतभेदों के होते हुए भी रचना-शिल्प की दृष्टि से फिर भी एक साहित्य-साधना बनी हुई थी; किन्तु इसके बाद मुक्तछन्द के रूप में कविता की जो दुर्दशा हो रही है वह असह्य और अक्षम्य है।

हमारी आशा उन नवाङ्कुरित तरुण कवियों की ओर है जो अब भी काव्य को प्रकृति के सान्निध्य में रसात्मक बनाये हुए हैं। ऐसी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी अपनी मनोरम झलक दे जाती हैं। इस मरुस्थल की तरह रूखे-सूखे युग में ऐसी कविताओं से हृदय को ओएसिस की तरह सुख-शान्ति मिलती है।

परमाणु-युग के कारण कविता ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि का भविष्य अन्धकारमय हो गया है। मैंने अपनी नयी पुस्तक—'दिगम्बर' (औपन्यासिक रेखाङ्कन) के अन्तिम परिच्छेद में यह प्रश्न उपस्थित किया है कि अणुबम क्या चाँदनी का सुख-शान्तिमय साम्राज्य भी समाप्त कर देगा?

परमाणु-युग के कारण यदि प्रकृति नहीं मिट जाती तो उसकी अजस्रता जीवन और कविता में चिरन्तन अमृत-प्रवाह बन कर बहती रहेगी।

एवमस्तु!

दिल्ली,
सन् १९५४

नयी हिन्दी-कविता

नयी हिन्दी-कविता से अभिप्राय उस कविता से है जो छायावाद के बाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के नाम से जानी-पहिचानी जाती है। छायावाद आधुनिक औद्योगिक युग के पूर्व के भावजगत का नव्यतम काव्योत्कर्ष था, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद हमारे साहित्य में यन्त्र-युग के काव्यारम्भ हैं। क्या ये दोनों 'वाद' छायावाद से सर्वथा विच्छिन्न और भिन्न कुलोत्पन्न हैं? कवि सुमित्रानन्दन पन्त इन दोनों को छायावाद की ही 'उपशाखा' मानते हैं। प्रगतिशील समीक्षक शिवदान सिंह चौहान का भी मन्तव्य पन्त जी से मिलता-जुलता है। 'हिन्दी-कविता का विकास' शीर्षक लेख में वे लिखते हैं—"छायावादी प्रवृत्ति एक संश्लिष्ट प्रवृत्ति थी, किन्तु उत्तर-छायावाद-युग में उसकी संश्लिष्ट भावना विशृङ्खलित हो गयी; जिससे काव्यानुभूति के तार बिखर गये। छायावादी कविता का स्वर बिखर गया। कुछ कवियों ने छायावाद के समाज-परक तत्त्वों में नये विचार भर कर सच्ची अनुभूति के बिना ही प्रगतिशीलता का स्वर-सन्धान करना चाहा, तो कुछ ने उसके व्यक्ति-परक तत्त्वों की गठरी सहेज कर प्रयोगशीलता का बौद्धिक चमत्कार दिखाया। दोनों ओर खोखला आत्मप्रदर्शन ही अधिक रहा, जीवन के हर्ष-विषाद और उसकी समस्याओं की मार्मिक अभिव्यक्ति विरल हो गयी। इसलिए आरम्भ की साधारण, सरल, इतिवृत्तात्मक किन्तु विकासोन्मुखी

हिन्दी कविता, दोनों महायुद्धों के बीच की अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँची छायावादी कविता और उत्तर-छायावाद-युग की पथभ्रष्ट अथवा पथ-खोजी दुरूह अथवा गद्यात्मक कविता मे एकसूत्रता है।"

पार्थक्य

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद चाहे छायावाद की उपशाखाएँ हों, चाहे उनमें एकसूत्रता हो, किन्तु पुरानी पीढ़ी के भीतर से उत्पन्न नयी पीढ़ी की तरह बहुत अन्तर पड़ गया है। छायावाद भी कभी अपनी मध्ययुगीन पीढ़ी के भीतर से ही उद्भूत हुआ था, किन्तु उसकी आत्मा उसी युग की थी, केवल अभिव्यक्ति (भाषा, शैली, लय) बदल गयी थी। कला की दृष्टि से ही वह रोमैन्टिक था और कला की तरह ही किसी अंश तक अपने जीवन-दर्शन में भी रूढ़िमुक्त था, फिर भी उसमें एक क्रमिक परम्परा का ही परिशोधन था। अब मुख्यतः प्रगतिवाद और गौणतः प्रयोगवाद टूटते हुए संयुक्त परिवार की तरह परम्परा से सम्बन्ध-विच्छेद कर अपने समय के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक युग में आ गया। छायावाद में यदि पुरानी मान्यताओं का परिशोधन था तो प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में उनका उन्मूलन और यथार्थवादी मान्यताओं की स्थापना का अनुर्वर प्रयत्न है। दोनों अपनी मान्यताओं को अन्तःकरण से अङ्कुरित नहीं करते, बाहर से आरोपित करते हैं। और जैसा कि एक समीक्षक ने कहा है—'संस्कृति और मूल्यगत उपलब्धियों की कलमें नहीं लगतीं, वे जीवन के विकास-क्रम में अपने आप स्थापित होती हैं;' यही बात कला के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

प्रगतिवाद का ऐतिहासिक दृष्टिकोण आर्थिक है, प्रयोगवाद का

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण कायिक है। एक मार्क्स का अनुयायी है, दूसरा फ्रायड का। क्या दोनों आस्थाहीन और अनात्म हैं? जीवन इनके लिए केवल पार्थिव प्रक्रिया है, आत्मसाधना नहीं?

छायावाद के बाद और प्रयोगवाद के पहिले हमारे साहित्य में प्रगतिवाद आया, अतएव उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ विचार-विमर्श हो चुका है। सम्प्रति प्रयोगवाद के सम्बन्ध में वाद-विवाद चल रहा है।

छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में क्या मानसिक वैभिन्य है, इसे थोड़े में नामवर सिंह ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है—"जिस तरह कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है और अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की; उसी तरह सामाजिक यथार्थ-दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है।"—इस कोटिक्रम में छायावाद और प्रयोगवाद रसात्मक दृष्टि से सन्निकट जान पड़ते हैं, किन्तु मनोवृत्यात्मक दृष्टि से दोनों में सूक्ष्म और स्थूल का भेद है। पन्त जी के शब्दों में—"छायावादी प्रीतिकाव्य सौन्दर्य्य-भावना-प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणयगीत राग और वासनामूलक।"

यद्यपि हमारे साहित्य में प्रयोगवाद प्रगतिवाद के बाद आया, तथापि वह छायावाद और प्रगतिवाद का मध्यवर्त्ती काव्य-प्रयास है। प्रगतिवाद ने साहित्य को काव्य से गद्य की ओर मोड़ दिया था। प्रयोगवाद ने छायावाद की कलाकारिता और प्रगतिवाद की यथार्थता के यत्किञ्चित् सम्मिश्रण से साहित्य में नवीनता का सूत्रपात किया।

मतभेद

कला की दृष्टि से छायावाद के प्रतिनिधियों का प्रयोगवाद से असन्तोष है, क्योंकि उन्हें उसमें चित्रण की परिष्कृत चि नहीं

मिलती। प्रगतिवादी भी प्रयोगवादी काव्यकला से (उसकी सीमित अनुभूति और अभिव्यक्ति के कारण) यदा-कदा अपना असन्तोष प्रकट करते रहते हैं। नामवर सिंह कहते हैं—"प्रयोगवादी कविताओं में एक विशेष प्रकार की घुटन और एकरसता मिलती है जो कवि और पाठक दोनों की मनोवृत्तियों को गहराने के नाम पर सङ्कुचित करती है और इस तरह उन्हें व्यापक विश्व—समाज और प्रकृति—में फैलने से रोक कर मनुष्य को जीवन्मृत बना देती है।"—यही बात प्रगतिवादी कविता के लिए भी कही जा सकती है। किसी भी दिशा में जब कोई भी प्रयास परिमित हो जाता है तब 'घुटन' और 'एकरसता' आ ही जाती है। साहित्य यदि जीवन का प्रतिबिम्ब है तो इस निर्जीवता का कारण जीवन में ही खोजना होगा। समाज, वातावरण और युग को दोष देकर व्यक्ति अपने दायित्त्व से मुक्त हो सकता है, किन्तु साधना द्वारा व्यक्ति अपने परिवेश से ऊपर उठ कर प्रभावशाली व्यक्तित्त्व बन सकता है।

जीवन की दृष्टि से छायावाद और प्रगतिवाद दोनों के प्रतिनिधियों का प्रयोगवाद से असन्तोष है। छायावादियों का असन्तोष सांस्कृतिक दृष्टि से और प्रगतिवादियों का असन्तोष मार्क्सवादी आर्थिक दृष्टि से है। प्रयोगवाद के जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में पन्त जी कहते हैं—"अपनी रागात्मक विकृतियों तथा सन्देहवादिता के कारण अपने निम्नस्तर पर इसकी सौन्दर्य्य-भावना केचुओं, घोंघों, मेढकों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत से अनुप्राणित होने लगी।"—क्या इस मनोवृत्ति से प्रगतिवाद भी ग्रस्त नहीं है?

पन्त जी दोनों को सामूहिक और वैयक्तिक दृष्टि से देख कर कहते हैं—"प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी अहंता को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा।"

प्रगतिवादी समीक्षक शिवदान सिंह चौहान ने प्रयोगवाद की उपरोक्त वैयक्तिक 'अहंता' को ही क्षुब्ध दृष्टि से देखा है। 'हिन्दी-कविता का विकास'–शीर्षक लेख में वे लिखते हैं—"उत्तर-छायावाद-युग की दूसरी धारा हिन्दी की वह कविता है जिसमें व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहंवादी, स्वार्थप्रेरित, असामाजिक, उच्छृङ्खल और असन्तुलित मनोवृत्ति के रूप में हुई है। इस कविता का शायद अभी तक अन्तिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है, इसीलिए प्रयोगवादी, प्रतीकवादी, प्रपद्यवादी या नयी कविता : इन अनेक नामों से पुकारा जाता है। प्रथम-युद्धोत्तरकालीन पाश्चात्य कविता में जिस तरह का व्यक्तिवाद अनेक साहित्यिक वादों और प्रवादों की दुहाई देता हुआ व्यक्त हुआ और उसने काव्य की भाषा, वस्तुविन्यास और व्यञ्जना में जैसे विचित्र बौद्धिक प्रयोग किये, कुछ उससे मिलती-जलती या प्रभावित हिन्दी की तथाकथित प्रयोगवादी कविता भी है।....अज्ञेय और उनके समानधर्म्मा दूसरे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अपनी व्यक्ति-चेतना से इतने आक्रान्त रहे हैं कि वे सामाजिक जीवन के साथ किसी प्रकार के सामञ्जस्य की कल्पना भी नहीं कर सकते।" —इस मन्तव्य से स्पष्ट है कि चौहान जी के असन्तोष का आधार मार्क्सवादी समष्टिवाद है। क्या व्यक्ति की चेतना का

कोई मौलिक अस्तित्त्व नहीं है? वही तो सामाजिक सम्बन्धों म आन्तरिक सामञ्जस्य स्थापित करती है।

जीवन के भावात्मक सत्यों को खण्डित कर यदा-कदा जो प्रयोगवादी रचनाएँ मन को खिन्न और अवसन्न कर जाती हैं उन्हीं के कारण यह धारणा बन गयी है कि ये कवि पथभ्रष्ट हैं। क्रौञ्च की उदर-बुभुक्षा और गर्दभ की कामुकता के द्वारा प्रयोगवाद के प्रेरक स्वयं अज्ञेय जी ने भी ऐहिक वास्तविकता को प्रत्यक्ष किया है। केवल प्रयोगवाद को ही ऐसे चित्रण के लिए लाञ्छित नहीं किया जा सकता, जो प्रयोगवादी नहीं हैं वे भी साहित्य में न जाने कब से यथार्थवादी दृष्टि से जीवन का अनाच्छादित चित्रण करते आ रहे हैं।

यथार्थ तो गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण में भी है, जहाँ मदन के प्रभाव से घोर कलिकाल छा जाने पर चराचर सृष्टि का नैतिक पतन दिखलाया गया है। सबसे बड़ा यथार्थ जीवों का यह शरीर है जिसम सड़क के कूड़ा-कर्कट की तरह ही मल-मूत्र, श्लेष्म और क्लेद का जमघट है। क्या जीवन का यही रूप है? मनुष्य की चेतना किस लिए है?

यथार्थ और आदर्श

आधि-व्याधि की तरह देह की विकृतियों को भी उपचार के लिए देखा जा सकता है। यथार्थ को देखने का दृष्टिकोण रचनात्मक होना चाहिये, तभी जीवन स्वस्थ हो सकता है। कलाकार तो स्रष्टा है। जनसाधारण की तरह यदि वह भी कालानुवर्त्ती ही हो गया तो लोक अपना स्वस्थ चित्र किससे कैसे पायेगा! सांस्कृतिक कवियों ने युग की केवल विडम्बना ही नहीं देखी-दिखलायी है,

रचनात्मक सौष्ठव (चेतना का चारुत्व) भी दिया है, जैसे इस युग में पन्त जी दे रहे हैं।..........

'दिनकर' की देन

जो प्रयोगवादी नहीं हैं वे भी अपने को प्रयोगवाद का 'पिछलगुआ' समझने लगे हैं, जैसे 'दिनकर' जी। 'नीलकुसुम' की कविताओं के सम्बन्ध में 'दो शब्द' में वे लिखते हैं—"ये उतार की कविताएँ हो सकती हैं, किन्तु ये सर्वथा नवीन हैं और इनकी तकनीक (टेकनीक) काफी लम्बे अनुभव से ही निकली है। विचित्र बात यह है कि 'नीलकुसुम' के रचयिता के सहज बन्धु 'रेणुका' और 'हुङ्कार' के रचयिता नहीं, वरन् वे लोग हैं जिन्हें सही नाम के अभाव में हम प्रयोगवादी कहने लगे हैं।"

दिनकर जी का उक्त वक्तव्य भ्रमोत्पादक है। 'नीलकुसुम' के टेकनिक में 'रेणुका' से कोई विशेष भिन्नता नहीं है; उसी-जैसी भाषा है, उसी-जैसी पद-योजना, उसी-जैसी वाग्विदग्धता।

वस्तुतः दिनकर जी की काव्य-शैली द्विवेदी-युग-जैसी है। उनका काव्यविन्यास और वाक्य-विन्यास उसी युग के पद्य-जैसा है। परन्तु उनका कवि-व्यक्तित्त्व उसी युग में सीमित नहीं है, उनमें एक ऐसी साहित्यिक सहृदयता है जो सभी युगों की विशेषताओं को स्वायत्त कर कवि का आत्मविकास करती है, तभी तो वे 'नीलकुसुम' में अपने को प्रयोगवादियों के साथ पाते हैं। इससे यही सूचित होता है कि उनका चिरतरुण हृदय प्रत्येक युग के तारुण्य से आत्मीयता स्थापित करना चाहता है।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से दिनकर जी चाहे प्रयोगवाद के टेकनिकों

का उपयोग न कर सके हों, किन्तु अनुभूति की दृष्टि से वे छायावाद की भाव-चेतना को आत्मसात् कर सके हैं; इसीलिए उनकी रचनाएँ द्विवेदी-युग के पद्यों की तरह इतिवृत्तात्मक नहीं, अन्तर्व्यञ्जक हैं। सच तो यह कि दिनकर जी द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के सन्धिकाल के मध्यवर्त्ती कवि हैं। साहित्य के तिहास में आचार्य्य शुक्ल जी ने हिन्दी-कविता के स्वाभाविक विकास के अन्तंगत द्विवेदी-युग के जिन कवियों को परिगणित किया है, दिनकर जी उन्हीं कवियों के नवीन कुलधर हैं।

'नीलकुसुम' की कविताएँ 'उतार की कविताएँ' नहीं हैं। इसमें दिनकर की काव्यचेतना और काव्यकला: दोनों का उत्कर्ष हुआ है। अभिव्यक्ति की अपेक्षा 'नीलकुसुम' में अनुभूति की नवीनता अधिक है। इसमें दिनकर की भाव-भूमि पहिले की अपेक्षा अधिक व्यापक और संवेदनशील हो गयी है। जीवन और जगत को देखने का उनका दृष्टिकोण कितना विस्तृत हो गया है! उदाहरण के लिए इस संग्रह का 'हिमालय का सन्देश' शीर्षक काव्यरूपक देखा जा सकता है, इसमें इस कविता-पुस्तक की सभी प्रेरणाओं का सङ्गम है। दिनकर जी ने इसे 'चिन्ताव्यञ्जक सङ्गीत' कहा है; किन्तु यह चिन्तना का नहीं, भावना का मनोहर सङ्गीत है। इसमें उनके 'कुरुक्षेत्र' की बौद्धिक शुष्कता नहीं, हार्दिक तरलता है।

'नीलकुसुम' की किन्हीं कविताओं में दिनकर जी ने एक ओर जहाँ वैज्ञानिक वस्तुसत्य का विरोध किया है वहाँ निष्क्रिय दार्शनिक चिन्तन की भर्त्सना भी की है। पन्त जी ने भी 'उत्तरा' में 'निष्क्रिय शून्य

जीवन-दर्शन' का निषेध किया है। किन्तु वे यन्त्र-युग और विज्ञान की उपयोगिता भी स्वीकार करते हैं, दिनकर जी इस उपयोगिता को स्वीकार नहीं करते।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भिन्नता होते हुए भी पन्त और दिनकर दोनों ही भावसत्य को भूतल के जीवन में सुन्दर सजीव देखना चाहते हैं। 'नीलकुसुम' की कविताओं में दिनकर जी ने छायावाद की सूक्ष्म नीरव भावनाओं का मर्म्मोद्घाटन किया है और भावसत्य को वस्तुसत्य का आलम्बन भी दिया है। भावसत्य और वस्तुसत्य : साध्य और साधन की तरह सुसम्बद्ध हो गये हैं। 'नीलकुसुम'-शीर्षक पहिली कविता में कवि ने कहा है—

हो जहाँ कहीं भी नीलकुसुम की फुलवारी,
मैं एक फूल तो किसी तरह ले जाऊँगा,
जूड़े में जब तक भेंट नहीं यह बाँध सकूँ
किस तरह प्राण की मणि को गले लगाऊँगा !

ऐसा जान पड़ता है कि दिनकर जी 'नीलकुसुम' में पन्त जी की 'स्वर्णकिरण' से प्रभावित हुए हैं। छायावाद की ऊर्ध्वमुखी चेतना को पृथ्वी पर साकार करने का उद्बोधन पन्त जी ने इन शब्दों में दिया है—

बाँधो हे, इस इन्द्रधनुष को धरती की वेणी पर
जीवन के तम की कबरी हो स्वर्गविभा से भास्वर

पन्त जी भावसत्य और वस्तुसत्य के जिस समन्वय को मानसिक स्तर पर मूर्त्तिमान करते हैं, दिनकर जी उसी को प्रेयसी के जूड़े में फूल की तरह बाँध कर सामाजिक स्तर पर प्रत्यक्ष कर देते

हैं। उनकी इस काव्यसृष्टि में लोकगीतों और दन्तकथाओं की-सी स्वाभाविक सजीवता है। पन्त जी जिस संस्कृति का स्वप्न देखते हैं वह इसी लोकजीवन से निःसृत होगी।

अनुभूति और संवेदना

प्रयोगवाद क्या केवल यथार्थवादी ही है, उसमें सांस्कृतिक निष्ठा नहीं है? अज्ञेय जी ने कहा है—'व्यक्ति साधना से ही होता दानी।' तभी तो वह आत्मनिर्म्माण को लोकनिर्म्माण बना सकता है। व्यक्ति की चेतना इसी साधना के लिए है।

प्रयोगवाद में भी केवल देह की विकृतियाँ और निश्चेतन मन की जड़ प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। उसमें आस्था है, अन्तर्द्वन्द्व है, आत्मविश्वास है, अन्तःशुद्धि के लिए उत्कण्ठा है।

.... सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने सूर की 'अविगत गति कछु कहत न बनै' की अनुभूति को इन शब्दों में संवेद्य किया है—

सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है;
तुम उसको मत वाणी देना।
वह छाया है मेरे पावन विश्वासों की,
वह पूँजी है मेरे गूँगे अभ्यासों की,
वह सारी रचना का क्रम है,
वह जीवन का सञ्चित श्रम है,
बस उतना ही मैं हूँ
बस उतना ही मेरा आश्रय है,
तुम उसको मत वाणी देना।

आस्था है—रेती में भी नौका खेती है,
वह टूटे मन की सामर्थ है,
वह भटकी आत्मा का अर्थ है;
तुम उसको मत वाणी देना।

फ्रायडियन मनोविज्ञान में ही प्रयोगवाद को संकुचित देखनेवालों के लिए धर्मवीर भारती के 'नया रस' से एक नवीन अनुभूति मिल सकती है, जो कि रसोन्मुख होते हुए भी सन्त-काव्य, शृङ्गार-काव्य और वैज्ञानिक काव्य से सर्वथा भिन्न है; अतीन्द्रिय और अनिर्वचनीय है। देखिये कैसा अन्तर्द्वन्द्व है—

प्रभु,
इस रस को
इस नये रस को
क्या कहते हैं?—
जिसमें शृङ्गार की आसक्ति नहीं—
जिसमे निर्वेद की विरक्ति नहीं—
जिसमें बाँहों के फूलों-जैसे बन्धन के आकुल परिरम्भण की
गाढ़ी तन्मयता के क्षण में भी ध्यान कहीं और चला जाता है।
तन पिघले फूलों की आग पिया करता है
पर मन में कई प्रश्नचिह्न उभर आते हैं।
यह सब क्या है?
क्यों है?
इसके बाद?
और बाद—
और बाद—
फिर क्या है?

चुम्बन, आलिङ्गन का जादू मन को जैसे
ऊपर ही ऊपर से छूकर रह जाता है
अन्दर जहरीले अजगर-जैसे प्रश्नचिह्न
एक-एक पसली को जकड़-जकड़ लेते हैं
फिर बेकाबू तन इन पिघले फूलों की
रसवन्ती आग बिना चैन नहीं पाता है!
प्रभु,
इस रस को
इस नये रस को
क्या कहते हैं?

प्रयोगवाद में केवल अहंवृत्ति नहीं है, उसमें भी अन्तर-जागरण और सर्वोदय का उद्घोष है। किसी राजनीतिक मतवाद का आग्रह नहीं। उसका दृष्टिकोण सांस्कृतिक जान पड़ता है। वह कृषक-जनता और उसके लोकनिम्र्माण का अभ्युत्थान चाहता है। गिरधर गोपाल ने वर्त्तमान संघर्षपूर्ण वातावरण में जनशक्ति को उत्साहित करते हुए कहा है—

संघर्ष के फौलादी झकोरों को
तोड़ते हुए बढ़ो
जैसे अङ्कुर
कंकड़-पत्थर तोड़ते हुए बढ़ता है;
फूलो-फलो
जैसे पेड़ फूलता-फलता है
अपने लिए नहीं
अपनों के लिए
ओ मेरे भाई

एक दिन
तुम्हारी छाया में
आगे आने वाली पीढ़ियाँ खिलेंगी !
तुम, हाँ यही तुम,
पुरुषों के हल
स्त्रियों के ढोल
बच्चों के खिलौने
और
देवता के मन्दिर के दरवाजे बनोगे
ओ मेरे भाई !
उठो भी धूप के जागरण-गीत गूँजने लगे
सूरज ने बर्फ की परतें गला दी हैं।

प्रयोगवाद के प्रमुख प्रतिनिधि अज्ञेय जी की कविताओं में भी सांस्कृतिक निष्ठा और कृषक समाज के साथ सहानुभूति है। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में विफल प्रेम की निराशा है, इसी निराशा ने उनके चित्रण को यथार्थवादी और जीवन-दर्शन को बौद्धिक बना दिया था। किन्हीं क्षणों में हृद्तन्त्री के तार टूट जाने पर ऐसी ही प्रतिक्रिया हो जाती है।

'बावरा अहेरी' में अज्ञेय जी का स्वस्थ रागात्मक विकास हुआ है। आत्मनिरीक्षण के क्षणों में प्रभात के सूर्य्य से (प्रकाश के प्रतीक से) वे कहते हैं—

एक बस मेरे मन-विवर में डुबकी कलौंस को
डुबकी ही छोड़ कर क्या तू चला जायगा ?
ले मैं खोल देता हूँ कपाट सारे

मेरे इस खँडहर की शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे:
विफल दिनों की कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखें आँज जा
कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
पहनूँ सिरोपे से ये कनक तार तेरे
बावरे अहेरी!

अज्ञेय में यदि कभी कोई अहंवृत्ति थी तो अब वे उसकी सङ्कीर्णता को समझ गये हैं। सामाजिक सतह पर उनकी संवेदना व्यापक हो गयी है, सर्वहारा किसान को भी देखने लगी है। चाहे भावात्मक दृष्टि से, चाहे बौद्धिक दृष्टि से, मनुष्य जब अपने में ही सीमित हो जाता है तब वह चाहे जितनी ऊँचाई पर उड़े, उसमें प्रमाद आ जाता है। अज्ञेय जी इसी आत्मप्रवञ्चना से सजग होकर कहते हैं—

मैं तो हूँ उड़ रहा खिलाड़ी:
जाने-अनजाने माने हूँ
जोखम का है खेल हवाई यात्रा।
पर नीचे चौसर के अगल-बगल जो
पाँसे डाले
खेल बिछाये
हर दम रहता—
उस अपने आड़ी किसान की जोखम
मुझसे बहुत बड़ी है—
मैं जो अपनी एक जान को ही चिपटे हूँ।

वह अपने आगे-पीछे सैकड़ों पीढ़ियाँ
दाँव-दाँव पर बद देता है।

काव्यकला की दृष्टि से आधुनिक युग में होते हुए भी अज्ञेय जी इस वैज्ञानिक अथवा यान्त्रिक युग के अनुगत नहीं हैं। प्रकृति की पृष्ठभमि में मशीनी जीवन की नीरसता और निर्जीवता को उन्होंने कितना स्पष्ट कर दिया है—

बाहर देख आया हूँ
[और भी जाते हैं
बीड़ी-सिगरेट फूँक आते हैं
या कि पान खाते हैं
और जिस देह में है खन नहीं, रसना में रस नहीं,
उसकी लाल पीक से दीवारें रँग आते हैं]
मैं भी देख आया हूँ—
वही तो तारे हैं, वही आकाश है।

किन्तु यहाँ आस-पास
घुमड़न है त्रास है
मशीनों की गड़गड़ाहट में
भोली (कितनी भोली) आत्माओं की अनुरणन की
मोहमयी प्यास है।

यन्त्र हमें दलते हैं
और हम अपने को छलते हैं—
'थोड़ा और खट लो, थोड़ा और पिस लो
यन्त्र का उद्देश्य तो बस शीघ्र अवकाश,
और अवकाश, एकमात्र अवकाश है।'

बाहर हैं वे—वही तारे, वही एक शुक्र तारा
वही सूनी ममता से भरा आकाश है।

यन्त्रयुग के 'अवकाश' और प्रकृति की 'सूनी ममता से भरा आकाश' में वस्तुस्थिति की कैसी व्यञ्जना है !

जीवन के प्रति अज्ञेय का दृष्टिकोण आनन्दवादी है। उनके आनन्द में न तो 'कामयनी' का आध्यात्मिक सामञ्जस्य है और न 'यामा' का सूफ़ियाना विरह-सुख। वह आनन्द पार्थिव है। उसमें 'मिट्टी की ईहा' है। उन की ईहा में संसृति है, स्मृति नहीं; उपभोग है, आत्मयोग नहीं। इसीलिए आध्यात्मिक अनासक्ति का स्थान एक भौतिक तटस्थता (निर्ममता) ने ले लिया है। उनका जीवन-दर्शन इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो
जीवन का रस लो : देह-मन-प्राण की रसना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो
जरा है भुजा तितीर्षा की : मत बनो बाधा
जिजीविषु को तर जाने दो।
आसक्ति नहीं, आनन्द है सम्पूर्ण व्यक्ति की अभिव्यक्ति :
मरूँ मैं, किन्तु मुझे घोषित यह कर जाने दो।

अज्ञेय जी जिस क्षणिक आनन्द को महत्त्व देते हैं उसमें यदि आसक्ति नहीं तो अनासक्ति भी नहीं है; उनकी आनन्द-वृत्ति मधुप-वृत्ति-जैसी जान पड़ती है।

अज्ञेय जी के लिए क्या बाह्य जगत ही सब कुछ है? क्या अन्तर्जगत का अस्तित्व नहीं है? फूल चाहे बाहर ही खिला हो

किन्तु उसे प्यार करने वाला तो अन्तर्वासी है। फूल की प्रफुल्लता भी तो भीतर से ही प्रस्फुटित होती है। वह रूप नहीं, चेतन है। रूप चला जाता है, चेतन ही अपनी स्मृति छोड़ जाता है।...

इहलौकिक दृष्टिकोण रखते हुए भी अज्ञेय जी सर्वथा भौतिकवादी नहीं, भावात्मक कवि भी हैं, तभी तो शरद चाँदनी को देख कर कहते हैं—

उठी ललक
हिय उमँगा
अनकहनी
अलसानी
मीठी,
खड़े रहो ढिग
गहो हाथ
पाहुन मन-भाने
ओ प्रिय रहो साथ
भर भर कर अँजुरी
पी लो
बरसी शरद चाँदनी
मेरा
अन्तः स्पन्दन
तुम भी क्षण-क्षण जी लो।

यह हिय का उमँगना और अन्तःस्पन्दन का जीना क्या है? यह सब क्या दैहिक व्यापार मात्र है? चेतना की सूक्ष्म सजीव प्रक्रिया नहीं?

हिन्दी में प्रयोगवाद का जन्म छायावाद के काव्यसंस्कारों को लेकर हुआ था, अतएव, कुछ अपवादों को छोड़ कर उसकी अनुभति और अभिव्यक्ति पर छायावाद का पर्य्याप्त प्रभाव है। छायावाद पर जिस तरह कभी अंग्रेजी रोमान्टिसिज्म का प्रभाव पड़ा था उसी तरह प्रयोगवाद पर आधुनिक यथार्थवादी अंग्रेजी कविता का भी प्रभाव पड़ा है, इसीलिए वह छायावाद से भिन्न जान पड़ता है।

युग का प्रभाव

प्रगतिवाद की तरह प्रयोगवाद पर युग का भी प्रभाव पड़ा है, चाहे दोनों की प्रेरणा के केन्द्र रूसी और अंग्रेजी साहित्य की तरह भिन्न-भिन्न हों। साहित्यकार अपने जीवन और मानसिक स्थिति के अनुसार ही प्रभाव का क्षेत्र ग्रहण करता है, स्वभाव के अनुरूप सख्य स्थापित करता है। छायावाद के कवि अंग्रेजी रोमान्टिसिज्म से इसलिए प्रभावित हुए थे कि वे स्वयं उस युग के प्राणी थे। आभिजात्य संस्कार और भावात्मक उत्क्रान्ति उनका संयम और शक्ति थी। उल्लङ्घ उद्वेलन नहीं था; इसीलिए नीरव प्रेम, नीरव भाषण, नीरव क्रन्दन मर्म्मस्पन्दन करता था। उस युग में छायावाद की समस्याएँ आन्तरिक और सामाजिक थीं। ये वे समस्याएँ नहीं थीं जो उसके परवर्त्ती युग में राजनीतिक और आर्थिक रूप में मुखरित हुईं। भावना के पोषक तत्त्वों के अभाव में जीवन का वस्तुसत्य गद्य-शुष्क होकर सामने आ गया। छायावाद-युग के स्निग्ध शिल्पी पन्त जी को भी 'युगवाणी' में गीत-गद्य लिखना पड़ा।

ब्रजभाषा के बाद द्विवेदी-युगमें भी गद्य का प्रादुर्भाव हुआ था। छायावाद और द्विवेदी-युग की संस्कृति तो एक ही थी, किन्तु द्विवेदी-

कालीन कवि प्राय: मध्यमवर्ग के अभावग्रस्त व्यावहारिक व्यक्ति थे, अतएव उन्होंने जीवन की ठोस आवाज सुनाने के लिए गद्य का माध्यम अपनाया। उस युग में जो अपेक्षाकृत श्रीसम्पन्न साहित्यिक थे उन्होंने काव्य का लालित्य भी दिया।

छायावाद के बाद फिर गद्य का युग आ गया। 'युगवाणी' में गीत-गद्य था; अब गीत पीछे छूटता जा रहा है, प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियों-द्वारा गद्य का प्राधान्य होता जा रहा है। इस युग की कविता को प्रपद्य, किञ्चित् कविता अथवा गद्य-कविता कहा जाता है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में अन्तर केवल जीवन-दृष्टि का है, लेखन-कला दोनों की एक है। प्रारम्भ में दोनों पर छायावाद के ललित शिल्प का प्रभाव बना हुआ था किन्तु वह उनके गद्य-संस्कार में समाविष्ट नहीं हो सका, हल्के जापानी सिल्क की तरह फीका हो गया।

छायावाद के भाव-जगत से उपराम हो जाने पर नयी पीढ़ी के कुछ कवि उर्दू की रसिकता और लोकगीतों की सरलता संजोने लगे। यह केवल भाव और कला के साधारणीकरण का ही प्रयास नहीं था, इसमें उनके सौन्दर्य्य और प्रेम की प्यास भी थी। नि:सन्देह उनका हृदय छायावाद की सूक्ष्मता और प्रगतिवाद की स्थूलता की अपेक्षा जीवन की सहज स्वाभाविकता के लिए लालायित था। भारती, सक्सेना और गिरधर गोपाल का गीतकाव्य इसका प्रमाण है। किन्तु अब ये कवि भी कैसा गद्य-पद्य लिख रहे हैं!

अज्ञेय जी का तो आरम्भ ही गद्य-कविता से हुआ था। उनकी

भाषा और छन्दयोजना द्विवेदी-युग की-सी थी, भाव और शैली छायावाद-युग की-सी। भाषा तो अब भी गद्य की है, किन्तु अब वह अपेक्षाकृत प्राञ्जल हो गयी है, यथास्थल संस्कृत और बोल-चाल के शब्दों के सदुपयोग से चित्रमयी हो गयी है। सम्प्रति अपनी गद्य-कविता को ही अज्ञेय जी भाव, भाषा, छन्द और शैली की दृष्टि से निजी शिल्प दे रहे हैं।

शिल्प-कौशल

रचना के अन्तर्व्यञ्जक शिल्प-कौशल को वे विशेष महत्त्व देते हैं। अपने एक लेख में लिखते हैं—"मैं फार्मलिस्ट हूँ, इस अभियोग से इतना अभ्यस्त हो गया हूँ कि एक बार और उसका जोखम उठाने के लिए तैयार हूँ; लेकिन जो बात मैं कहना चाहता हूँ वह वास्तव में रूपाकार की नहीं है, वह अनुशासित अभिव्यक्ति की बात है—अनुशासन के साथ इतने गहरे और सहज सम्बन्ध कि वह अभिव्यक्ति का अङ्ग बन जाय।"—उनका यह वक्तव्य शैली की विशेषता की ओर ध्यान दिलाता है। वे शैली में वक्रता अथवा अभिव्यक्ति की भङ्गिमा चाहते हैं। 'इत्यलम्' में उन्होंने शैली का यह सूत्र दिया है—

> समानान्तर सूत्रों से बुनाई नहीं हो सकती—
> जीवन का पट बुनने के लिए आवश्यक है कि
> बहुत-से आड़े पड़ें।

भाषा और अलङ्कार की दृष्टि से अज्ञेय जी पुराने शब्दों और पुराने उपमानों को अपर्य्याप्त समझते हैं। कहते हैं—'कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।'—लेकिन यह बात सभी

शब्दों और उपमानों के लिए नहीं कही जा सकती। ऐसे भी शब्द और उपमान हैं जिन पर मुलम्मा नहीं होता, वे घिसने से और भी चमक उठते हैं। उन्हें माँजने के लिए कवि भी परिमार्जित होना चाहिये, अन्यथा नवीनता के नाम पर उसके अनाड़ीपन का ही परिचय मिलेगा।

छायावाद-युग में भी शब्दों और उपमानों का नवीन प्रयोग किया गया था। 'पल्लव' के 'प्रवेश' में पन्त जी ने इस सम्बन्ध में बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। उनकी दृष्टि के अनुरूप ही उनका शिल्प-सौन्दर्य्य भी काव्य-कलित हो गया है। किन्तु प्रयोगवादियों का प्रयास काव्यात्मक नहीं, गद्यात्मक है; यह बात उनके छन्द से भी स्पष्ट हो जाती है।

मुक्त छन्द

प्रयोगवादियों ने प्राय: मुक्तछन्द का उपयोग किया है जिसका प्रवाह 'कवित्त' का-सा है। वह उद्‌गार-प्रधान है, भाव-प्रधान नहीं। कवित्त के आधार पर मुक्तछन्द का आरम्भ हिन्दी में सबसे पहिले निराला जी ने रङ्गमञ्च के लिए किया था। 'परिमल' की भूमिका में उन्होंने कहा है—"नाटकों में सबसे अधिक रोचकता इसी कवित्त छन्द की बुनियाद पर लिखे गये स्वच्छन्द छन्द द्वारा आ सकती है।...इस छन्द में आर्ट आफ रीडिंग का आनन्द मिलता है, और इसीलिए इसकी उपयोगिता रङ्गमञ्च पर सिद्ध होती है।"

क्या यह नाटकीय रोचकता और आर्ट आफ रीडिंग का आनन्द प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियों के मुक्तछन्द में मिलता है?

अज्ञेय जी तो अपनी रचनाओं में कुछ नाटकीयता उत्पन्न कर लेते हैं, किन्तु अन्य नवयुवक कवि केवल अपनी कलाहीनता का परिचय देते हैं। पन्त जी कहते हैं—"छन्दों की दृष्टि से उन्होंने अपनी अन्तर्लय-हीन भावनाओं तथा उच्छृङ्खल उद्गारों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छन्द के रूप में पंक्तिबद्ध गद्य को अपनाया जिसका प्रवाह उनके बहिर्भूत दृष्टिकोण के अनुरूप ही अधिक असम्बद्ध, छितरा-बिखरा तथा ऊबड़-खाबड़ रहा।"

मुक्तछन्द केवल मुक्त नहीं, छन्द भी है; अतएव, वह भाव-साधना की तरह कला-साधना भी चाहता है। किन्तु आज के नवयुवक कवि अनुशासनहीन छात्रों की तरह आत्मप्रदर्शन को ही अपनी सजीवता समझते हैं। डा० देवराज कहते हैं—"कम कवि इस बात को महसूस कर पाते हैं कि मुक्तछन्द लिखना छन्द-बद्ध काव्य-रचना से अधिक कड़ा अनुशासन माँगता है। कुछ कवियों के बारे में यह सन्देह होता है कि वे सम्भवतः अक्षमता के कारण, छन्द-बद्ध रचना की 'डिसिप्लिन' से गुजरे बिना ही, मुक्तछन्द लिखने लगे हैं।"

प्रयोगवाद के तन्त्रविद् अज्ञेय जी ने नयी कविता का कलात्मक दृष्टिकोण इन शब्दों में उपस्थित किया है—"प्रश्न केवल शब्द-चयन का नहीं है, वाक्य-रचना का है, योजना का है, अन्विति का है। ...आज की कविता बोल-चाल की अन्विति माँगती है, पर गद्य की लय नहीं माँगती। तुक-ताल का बन्धन उसने अनात्यन्तिक मान लिया है, पर लय को वह उक्ति का अभिन्न अङ्ग मानती है। बाह्य अनुशासन को हेय नहीं तो गौण मान लेने पर आन्तरिक

अनुशासन को वह अधिक महत्त्व देती है।" किन्तु वे भी नयी कविता की एकस्वरता को अच्छा नहीं समझते। कहते हैं—"कविता के पहले अक्षर से अन्त तक एक ही यान्त्रिक लय चलती जाती है, न तो गति की स्वाभाविकता का विचार होता है और न यति की सार्थकता का—और जहाँ-तहाँ अनावश्यक रूप से जोड़ दिये गये 'कि' की आवृत्ति एकस्वरता को और भी बढ़ा देती है।"

मुक्तछन्द में गति-यति नाट्यभङ्गिमा से ही आ सकती है। इसके लिए वाग्वैचित्र्य ही पर्याप्त नहीं है, उद्‌गारों में शैली की रसानुरूप ऋजु-कुञ्चित तथा मन्द्र-द्रुत व्यञ्जकता भी होनी चाहिये। नये कवि मुक्तछन्द में यदि नाटकीय विशेषता नहीं उत्पन्न कर सकते तो अच्छा हो कि वे छन्दोबद्ध पद्य लिखें। यदि गद्य ही लिखना हो तो जो बात वे मुक्तछन्द में कहना चाहते हैं उसे लघु कथा, पर्सनल एसे, संस्मरण, रेखाचित्र, सम्वादचित्र (रिपोर्ताज) में कहें। या, फिर भारती की सफल कृति 'अन्धा युग' जैसी नाट्य-रचना करें।

प्रयोगवाद काव्यकला में ही नहीं, विषय-वस्तु में भी विशदता चाहता था। अज्ञेय जी ने कहा है—'है, अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।

गोस्वामी जी की 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' की तरह ही अनुभूतियों तथा उद्‌गारों का क्षेत्र असीम है। खेद है कि लेखन-कला की तरह ही प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियों की विषय-वस्तु भी अत्यन्त परिमित हो गयी है। तात्कालिक जीवन के छोटे-से

दायरे में ही वे चक्कर लगा रहे हैं, सृष्टि की विशालता और उसकी चिरन्तन नूतनता की ओर उनका ध्यान नहीं है। अतएव, क्षणभङ्गुर अहं की ही तुष्टि हो रही है, रचना में स्थायित्व नहीं आ रहा है।

भावना के विस्तार के लिए प्रकृति से सान्निध्य होना आवश्यक है। प्रकृति केवल पार्थिव उपकरण नहीं; वह स्वास्थ्य, सौन्दर्य्य, प्रेम तथा सभी रसानुभूतियों की सञ्जीवनी है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के जो कवि प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सके हैं उनकी रचना यथास्थल सरस हो गयी है।

इस मुक्तछन्द ('पंक्तिबद्ध गद्य') के युग में भी गीतकाव्य का रस-प्रवाह सूख नहीं गया है। प्रकृति के अजस्र वरदान से वह आज भी लहरा रहा है। उत्तर-छायावाद-युग के प्रतिनिधि केवल प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के ही कवि नहीं हैं, बल्कि वे नवोदित कवि भी हैं जो अपनी तरुण अनुभतियों में प्रकृति के स्नेह-स्पर्श का अनुभव करते हैं और ऋतुओं के रागोन्मेष से अनुप्राणित होकर आह्लाद, प्रेम और यौवन के गीत अनायास गा उठते हैं। लोकगीतों की आत्मा इन्हीं में जीती-जागती है, स्वाभाविक कण्ठ से हृदय की बात कहती है। इन्हीं के द्वारा छायावाद पुनः काव्य में अङ्कुरित-प्रस्फुटित हो रहा है, पहिले से भी अधिक सरस सजीव होकर।

काशी,
२–९–५५

'दिव्या'

'दिव्या' : प्रगतिशील कहानी-लेखक और उपन्यासकार यशपाल जी का बौद्धकालीन ऐतिहासिक उपन्यास है। हिन्दी का कथा-साहित्य इन दिनों जीवन का केवल तटस्थ चित्रण न रह कर चिन्तन-शील लेखकों के अपने दृष्टिकोण का निदर्शन भी हो गया है। यशपाल जी की रचनाओं में भी उनका दृष्टिकोण देखा जा सकता है।

यशपाल जी यद्यपि मार्क्सवादी हैं तथापि उनमें वह राजनीतिक कट्टरता नहीं है जो नैतिक रूढ़ियां की तरह ही सौन्दर्य और प्रेम को वर्जित करती है। कोरे मार्क्सवादी आलोचकों ने यशपाल जी को रोमांस का रसिक कह कर उनकी भर्त्सना की है, इन सङ्कोर्गचित विचारकों को उन्होंने अपने 'दादा कामरेड' और 'पार्टी कामरेड' में सांकेतिक उत्तर दे दिया है। यशपाल जी का बुनियादी दृष्टिकोण आर्थिक है, किन्तु वे मनुष्य की रागात्मक भावना का भी अनुभव करते हैं, इसीलिए उनका हृदय स्वप्निल है।

कला की दृष्टि से उन्होंने सौन्दर्य्य को उसके निरावृत रूप में भी देखा है जैसे मुक्त अन्तःकरण को। सौन्दर्य्य को नग्न रूप में वही देखने का अधिकारी है जो देह में चेतना का चाञ्चल्य देख सकता है। यहीं पर कला ऐन्द्रयिक ही नहीं, अतीन्द्रिय भी हो जाती है। 'दादा कामरेड' में नारी की नग्न छवि के प्रति यशपाल का कलात्मक कुतूहल है। इस कुतूहल में कोरी वासना नहीं, वह

भावप्रवणता है जो 'देशद्रोही' में 'चन्दा' की चन्द्रिकोज्ज्वल आत्मा को सदेह कर सकी है।

'दिव्या' में भी यत्र-तत्र नारी के आकर्षक चित्र हैं। ये चित्र यद्यपि अनावृत नहीं हैं तथापि वासना को उद्दीप्त कर देते हैं, इनमें शृङ्गारिक लालित्य है। यथा—

"शेष शरीर से ऊपर उभरे, कञ्चुक में बँधे दिव्या के उरोज उसके हृदय की धड़कन को आश्रय देने के लिए ही आगे बढ़ आये थे।...पृथुसेन के प्राण ओठों पर आ, दिव्या के लिए विकल हो उठे।...उसके अवश हाथ दिव्या के उरोजों के नीचे स्पन्दित प्राणों की खोज में उसके कञ्चुक पर चञ्चल हो उठे।"...

एक अन्य चित्र नर्त्तकी का देखिये—"उसके केशों से अब भी मुक्तागुच्छ झूल रहे थे। मस्तक पर चन्द्रिका, तिलक, और ओठों पर राग था। शङ्ख के समान ग्रीवा का मार्दव मुक्तावलियों से घिर कर और अधिक उद्भासित हो रहा था। रक्त कौशेय में पीठ पीछे खिंच कर पूर्ण गोलार्द्ध बने उरोज बन्धन में आकर वागुरा खिंचे अश्व की भाँति और अधिक मुखर हो रहे थे। कटि से नीचे धानी रंग का अत्यन्त चिकना शाटक, वीणा के कूष्माण्ड की भाँति नितम्बों को ओट में लेकर अधिक आकर्षक बनाये था और भ्रान्ति के कारण अस्पष्ट रूप से थिरकती लम्बी तूँबी के समान जंघाओं की आकृति उसमें से व्यक्त हो रही थी। कञ्चुक और शाटक के मध्य अनावृत त्रिवली अपनी स्वाभाविक कमनीयता से दोनों ओर के रक्त और धानी कौशेय को लजा रही थी।"

ये आकर्षक चित्र कला और काव्य की उसी पुरातन परम्परा में हैं जिस पर अश्लीलता का आरोप किया जाता है। इनमें 'चन्दा' की झलक नहीं मिलती। फिर अन्तर्दर्शी कलाकार यशपाल ने ऐसे बाह्यचित्र क्यों चित्रित किये? कदाचित् वे दिखलाना चाहते थे कि उस सामन्त-युग में नारी के सौन्दर्य्य की कैसी धारणा थी जिस युग में 'छिले हुए कदली के समान स्निग्धवर्ण दासी निःशब्द पदों से कक्ष में' प्रवेश करती थी।

परिस्थितियों की उलझन

....'दिव्या': कितना सुकोमल और सात्त्विक नाम है! इस नामकरण में यशपाल की वही दिव्य भावना रही होगी जो 'चन्दा' के व्यक्तित्व के रूप में उनके अन्तःकरण में अङ्कित थी। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि युग की वास्तविकता ने उन्हें विचलित कर दिया, उनकी मानसी मूर्त्ति सुरक्षित नहीं रह सकी। उनके 'मनुष्य के रूप' नामक उपन्यास में पहाड़िन भी कैसी सरला वन-बाला थी, किन्तु परिस्थितियों ने उसका कैसा रूपान्तर कर दिया! 'दिव्या' यद्यपि आद्यन्त दिव्या है तथापि उसे भी कैसी जटिल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा! पहाड़िन की तरह उसका पतन नहीं हुआ, फिर भी यथार्थ वातावरण में इस प्रकार का मनोज्ञ चरित्र यशपाल जी के लिए एक समस्या बना हुआ था। वे सोचते रहे होंगे कि कहाँ तक कब तक ऐसा लोकोत्तर व्यक्तित्व अक्षुण्ण रह सकता है! 'दिव्या' के बाद 'मनुष्य के रूप' में उन्होंने अपनी ही भावसृष्टि को खण्डित कर दिया।

'दिव्या' के प्राक्कथन में कहा है—"मनुष्य केवल सुलझाता ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्म्माण भी करता है, प्राकृतिक और भौतिक परिस्थितियों में परिवर्त्तन करता है, सामाजिक परिस्थितियों का वह स्रष्टा है।"—किन्तु यशपाल जी के उपन्यास रचनात्मक नहीं, परिस्थितियों के प्रतिरूप हैं। मनुष्य क्या ऐसा बाह्य प्राणी है कि वह परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है? सारे वातावरण और सारी जटिलताओं के बीच क्या उसका कोई स्थितप्रज्ञ रूप नहीं है जो शाश्वत रह सकता है? प्रगतिवादी होते हुए भी यशपाल जी की यह कविजनोचित सहृदयता है कि उन्होंने भावना का साक्षात्कार किया, किन्तु अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद के कारण साधना को आत्मस्थ नहीं कर सके। यदि उनमें कलाकार की जागरूकता है तो कभी न कभी उन्हें फिर भावना और साधना की ओर प्रत्यावर्त्तन करना पड़ेगा।

चन्दा, दिव्या, पहाड़िन ये सब पुरानी भाषा में भाग्य-द्वारा अभिशप्ता कुलकन्याएँ हैं, इस युग की भाषा में कठोर यथार्थ के सम्मुख अतीत की सामाजिक विडम्बनाएँ।

प्रस्तुत उपन्यास 'दिव्या' में यद्यपि एक विफल प्रणय की करुण गाथा है तथापि वह उपलक्ष्य मात्र है; मुख्य लक्ष्य आर्थिक, धार्म्मिक, सामाजिक वस्तुस्थिति का निदर्शन और विवेचन है। प्रगतिवादी दृष्टि के अनुसार जीवन का कोई भी प्रसङ्ग इस वस्तुस्थिति से अलग अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता।

कथानक

....दिव्या द्विजकुल की सुश्री कुमारी है। माता-पिता के अकाल काल-कवलित हो जाने पर वह अपने प्रपितामह सागल के धर्म्मस्थ देवशर्म्मा के वात्सल्य से पनप कर तरुणी हो गयी।

महापण्डित धर्म्मस्थ देवशर्म्मा सभी मतों और सभी विचारों के प्रति उदारमना थे। उनके सामीप्य से दिव्या 'ज्ञान के प्रसङ्ग से भी अबोध न थी', किन्तु 'शब्दों की अपेक्षा ज्ञान को उसने भावना में पाया था।' राजनर्त्तकी और कला की अधिष्ठात्री देवी मल्लिका के प्रशिक्षण में नृत्य और सङ्गीत से उसकी भावना का हार्दिक विकास हुआ। अपनी कला-साधना में सफल होकर वह 'सरस्वती- पुत्री' के पद-सम्मान की अधिकारिणी और मल्लिका की उत्तराधिकारिणी हो गयी।

मधुपर्व्व के अवसर पर युवकों के वीरत्व की परीक्षा लेने और दिव्या को सम्मानित करने के लिए शुभ आयोजन किया गया। वीरत्व का श्रेय श्रेष्ठिपुत्र पृथुसेन को मिला। उस समय की प्रथा के अनुसार 'अभिजात वंश के युवक सरस्वती-पुत्री का सम्मान पाने वाली युवती की पुष्पों से आच्छादित शिविका अपने कन्धों पर युवती के गृहद्वार तक ले जाते थे।' पृथुसेन ने भी दिव्या का सम्मान करने के लिए उसकी शिविका में कन्धा लगाना चाहा। द्विजकुल के रुद्रधीर ने उसे ललकारा—"दासपुत्र को अभिजात वंश के युवकों के साथ शिविका में कन्धा देने का अधिकार नहीं।"

पृथुसेन का पिता कभी दास था और बाद में दासों का व्यापार कर नगर का गण्यमान्य श्रेष्ठि हो गया था। रुद्रधीर की वर्जना से

उसका तारुण्य क्षुब्ध हो गया। मर्म्माहत होकर सोचने लगा—"जन्म का अपराध! यदि वह अपराध है तो उसका मार्जन किस प्रकार सम्भव है?.....जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले?....या उससे ले जिसने अपने स्वार्थ के लिए जन्म के मिथ्या अधिकार की व्यवस्था निर्द्धारित की है?....हीन कहे जाने वाले कुल में मेरा जन्म लेना अपराध है अथवा द्विजकुल में जन्मे अपदार्थ लोगों का अहङ्कार?"—इस आक्रोश से उसके मन में वह धार्म्मिक प्रतिहिंसा जाग उठी जो आगे चल कर राजनीतिक अथवा कूटनीतिक संघर्ष में परिणत हो गयी।

उदारमना प्रपितामह की स्नेहछाया में पली दिव्या की पृथुसेन के प्रति सहानुभूति थी। वह उसके पराक्रम और स्वाभिमान से प्रभावित होकर उससे प्रेम करने लगी। दोनों भावना के प्रवाह म बहने लगे।......

मधुपर्व्व के अवसर पर जब दिव्या का कला की दृष्टि से सम्मान हो रहा था तब भौतिकवादी मारिश ने वास्तविकता की दृष्टि से कहा था—"भद्रे! तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण-शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।"—आगे चल कर भावना की सुकुमार आत्मा दिव्या को अपनी देह से जीवन में यही कटु अनुभव हुआ।

....दिव्या और पृथुसेन, दोनों देवी मल्लिका के सङ्गीत-समाज में मिलते रहते थे। एकान्त-प्रणय ने दिव्या को गर्भवती बना दिया। यदि पृथुसेन सागल में ही रहता तब तो चिन्ता की कोई बात नहीं थी, किन्तु....

सागल जिस मद्र राज्य की राजधानी था उस पर युद्ध का सङ्कट आ गया, केन्द्रस का यवन नृपति अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए सीमान्त पर पहुँच गया। परिस्थिति ने मद्र की राजनीति में परिवर्त्तन कर दिया, पृथुसेन का अपमान करने के दण्डस्वरूप रुद्रधीर को एक सहस्र दिवस के लिए राज्य से निर्वासित कर दिया गया। पृथुसेन सेनापति होकर शत्रु-सेना से मोर्चा लेने के लिए युद्ध-क्षेत्र में चला गया। विरहिणी दिव्या के प्राण प्रतिक्षण उसे पुकारते रहते—"आर्य्य, अपनी दिव्या और उसके शरीर में सौंपे अपने अंश की सुध लेने के लिए शीघ्र आओ .... ।"

चार-छः महीने के बाद पृथुसेन युद्ध में विजयी किन्तु आहत होकर सागल लौटा। शरीर की विवशता ने उसे रुग्णशय्या का आश्रय लेने के लिए बाध्य कर दिया। महासेनापति गणपति मिथोद्रस की पौत्री सीरो उसकी परिचर्य्या करने लगी।

दिव्या पृथुसेन को देखने के लिए व्याकुल रहती थी, किन्तु अपनी असमर्थता के कारण कहीं आ-जा नहीं पाती थी। फिर भी एक दिन साहस करके सूर्य्यास्त के बाद प्रेस्थ के प्रासाद में गयी। पृथुसेन उस समय सो रहा था। सीरो ने मानों गृह-स्वामिनी के अधिकार से कहा—'किसी भी अवस्था में आर्य्य की निद्रा भङ्ग न की जाय।.... अभ्यागत वार्त्तालाप-द्वारा रोगी को क्लान्त न करें।' —इस निषेध से दिव्या अपने ही प्रियतम के लिए परायी हो गयी। उसके लिए वहाँ बैठना दूभर हो गया। आहत वीर के स्वास्थ्य के लिए मङ्गल कामना कर वह लौट गयी।

निद्राभङ्ग होने पर पृथुसेन को दासी-द्वारा दिव्या के आकर लौट जाने का समाचार मिला। सीरो का निषेध और दिव्या की विवशता से अनजान होने के कारण वह सोचने लगा—"क्या कुल अभिमान के कारण दिव्या उसके प्रति उदासीन हो गयी ? क्या किसी के प्रबल आकर्षण के सन्मुख वह झुक गयी ?"....

मनोरञ्जन के लिए प्रस्तुत नृत्य-गान-वाद्य किसी में उसका मन नहीं लगा, न सीरो के प्रणय-प्रदर्शन में। शरीर के कुछ स्वस्थ होने पर उसने दिव्या के यहाँ जाने के लिए पिता से अनुमति माँगी।

पिता ने कहा—किस प्रयोजन से वत्स ?

पृथुसेन ने उत्तर दिया—समर-यात्रा से पूर्व मैं महापण्डित धर्म्मस्थ की पौत्री से विवाह की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। उस कार्य्य को मैं अविलम्ब पूर्ण करना चाहता हूँ।

पिता ने कहा—उस समय धर्म्मस्थ की कन्या से विवाह ही उचित लक्ष्य था। अब उससे अधिक श्रेष्ठ मार्ग सन्मुख हैं। भविष्य में तुम्हारी सफलता गणपति की कन्या सीरो से विवाह करने में ही है।

पृथुसेन किसी भी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के लिए दिव्या से विमुख नहीं होना चाहता था, किन्तु पिता की कूटनीति ने उसे सीरो से विवाह करने के लिए विवश कर दिया। राजनीति और अर्थनीति ने प्रेम को ग्रस लिया।

....गर्भवती दिव्या की स्थिति जटिल हो गयी। अब किस मुँह से अपने कुलीन परिवार में रहे ? अग जग से अनजान वह

भोली अबला अपनी धाय को साथ लेकर घर से निकल गयी, बीहड़ संसार में चली गयी। एक नारी-विक्रेता के हाथ पड़ गयी। पृथुसेन के जीवित चिह्न शाकुल का जन्म हुआ, उसी को हृदय से लगा कर मथुरापुरी के एक ब्राह्मण-परिवार में दासी का काम करने लगी। वहाँ उसे इतनी दारुण यातना मिली कि सोचने लगी—'संसार केवल शक्तिशालियों के लिए है। दुखियों के लिए वैराग्य ही सुख है।'.....

एक दिन तपती दोपहरी में जीर्ण-शीर्ण कलेवर में अपने शरीर और पुत्र को किसी तरह ढँक कर बौद्ध बिहार में आश्रय लेने के लिए ब्राह्मण के घर से भाग निकली। [illegible]विर के सन्मुख उपस्थित होकर उसने कातर स्वर में प्रार्थना की—हे धर्म्मपिता, दासी तथागत के धर्म्मचक्र में इस विहार में शरण की भिक्षा माँगती है।....

स्थविर ने कहा—देवी, धर्म्म के नियमानुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति के बिना संघ स्त्री को शरण नहीं दे सकता।

उन्हें आसन से उठते हुए देख हाथ जोड़ उसने निवेदन किया—परन्तु देव, भगवान तथागत ने तो वेश्या अम्बपाली को भी संघ में शरण दी थी।

'वेश्या स्वतन्त्र नारी है, देवी!'—उत्तर दे स्थविर उठ गये।

दिव्या के लिए अब वेश्यावृत्ति के सिवा और कोई सहारा नहीं रह गया। किन्तु रूप की हाट में बैठने के लिए सौन्दर्य्य और स्वास्थ्य चाहिये। दिव्या तो विश्री हो गयी थी। सम्पन्न वर्ग की वह सुकुमारी भूख-प्यास और चिन्ता से जर्ज्जरित होकर शोषितों

की श्रेणी में आ गयी थी। फिर भी अपने लिए नहीं, शाकुल के लिए जीना चाहती थी।

क्षुधा-शान्ति के लिए दिव्या मथुरापुरी के पथों पर भटक रही थी। किसी ने उसे सुझाया—"यमुना तट पर श्रेष्ठि पद्मनाभ तुम जैसे दीनों का द्रव्य समेट, उन्हें क्षुधार्त्त बना, भोजन दे, अपने पर-लोक के लिए पुण्य सञ्चय कर रहा है। जा, उसके यहाँ भोजन कर! उसे पुण्य दे।"

दिव्या उसी ओर चल पड़ी। सहसा पीठ पीछे उसने ललकार सुनी—'पकड़ो-पकड़ो, भगोड़ी दासी भागी जा रही है।' यह आवाज उस पुरोहित स्वामी की थी जिसके यहाँ से वह भाग आयी थी।

पुरोहित चक्रधर की पुकार से सहानुभूति में और लोग भी भगोड़ी दासी को पकड़ने के लिए ललकारने लगे। मति-अन्ध लोकमत सो प्रकार शक्ति और सामर्थ्य का साथ देता आया है।

दिव्या यमुना तट पर पहुँच चुकी थी। चारों ओर के कोलाहल से घबड़ा कर आत्मरक्षा के लिए शाकुल को हृदय से चिपटाये वह जल में कूद पड़ी। ग्रीष्म में नौका-विहार करती राजनर्त्तकी रत्नप्रभा का ध्यान उसकी ओर गया। स्वामिनी के आदेश से सेवकों ने दिव्या को पानी से बाहर निकाल कर बजरे पर लिटा दिया—'उस समय भी उसका शिशु उसके शुष्क स्तनों पर कृश बाहुओं से बँधा था।'

शिशु तो चल बसा था, किन्तु रत्नप्रभा की सहृदयता से दिव्या बच गयी। उसी के आश्रय में रहने लगी। इस तरह 'वह नारी

जल से नर्त्तकी वेश्या बन कर निकली।' अब उसका नाम था अंशुमाला।

रत्नप्रभा के आश्रय में दिव्या का स्वास्थ्य और सौन्दर्य्य फिर लौट आया। थोड़े दिनों में ही उसकी कला-निपुणता की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। अभिजात कुल की-सी शीलता और अप्रतिम कलाकारिता से प्रभावित होकर रत्नप्रभा भी दिव्या का सम्मान करने लगी।

रत्नप्रभा के कला-समाज में प्रवासी पथिक भी आते रहते थे। पर्य्यटक मारिश भी उसका अतिथि रह चुका था। अपने लोकायत-सिद्धान्त के प्रति उसे उत्कण्ठित कर गया था। यों ही भ्रमण करते हुए वह कुछ दिनों के लिए फिर उसका अतिथि हो गया।

अपने आध्यात्मिक संस्कारों में सामन्त-युग के सभी वर्ग परलोक की ओर प्रेरित थे। किन्तु मारिश ने अपने लोकायत-सिद्धान्त से रत्नप्रभा के बद्धमल संस्कारों को हिला दिया था। वह उसका आदर करने लगी थी।....

मारिश से परिचय कराने के लिए रत्नप्रभा ने अंशुमाला को बुलाया। उसे देख कर वह स्तब्ध हो गया—'उस शुभ्र वस्त्रधारिणी सङ्कुचित, उदास नर्त्तकी के पीछे उसे तीन वर्ष पूर्व देखा व्यथित मराली का नृत्य अधर में दिखाई देने लगा।'—सहसा मारिश के ओठ हिले—'कुमारी दिव्या!'

दिव्या के नेत्र झुक गये। मारिश ने समवेदना से कहा—'भद्रे, इस दूरदेश में इस स्थान पर आपका आना कैसे हुआ?'....

मारिश की समवेदना क्या हार्दिक थी ? वेश्या बनने के विचार से दिव्या जब मथुरापुरी के पथों पर भटक रही थी तब उसके कङ्काल मुख, बिखरे केशों, धँसे नेत्रों और फटे मलिन वस्त्रों की ओर सङ्केत कर उसने अट्टहास से कहा था—"अहा क्या ही तो रूप-लावण्य है और क्या गुण, और कैसी शोभा ! यह वेश्या बनेगी तो मथुरापुरी का रसिक समाज अपने नेत्रों की मणि रत्नप्रभा को भी भूल जायगा।"

यात्रा की उपेक्षा में बढ़े हुए श्मश्रुओं के कारण आरम्भ में दिव्या उसे पहिचान न सकी थी। परन्तु उसके स्वर से पहिचान गयी। उसका नाम ले पुकार उठना चाहती थी कि उसे बोलने का अवसर न दे वह ओझल हो गया था। अब जब कि दिव्या पुनः सुखी हो गयी थी, मारिश उसे अपनी समवेदना देने लगा।

दिव्या किसी परलोक में स्वर्ग नहीं पाना चाहती थी किन्तु इस लोक में भी उसे कोई आशा-आकांक्षा नहीं थी। मारिश ने उसके वीतराग हृदय में जीवन का अनुराग जगाने के लिए अपने लोकायत सिद्धान्त से प्रभावित करना चाहा, किन्तु सब कुछ समझ कर भी वह अपनी स्थिति के प्रति सन्दिग्ध थी।....

सागल में मारिश ने दिव्या के प्रति आकर्षण अनुभव किया था। किन्तु उस समय वह उसकी पहुँच के परे थी। अब रत्नप्रभा के प्रासाद में दिव्या गर्व और गौरव के दुर्द्धर्ष शिखर से उतर समता की भूमि पर मारिश के हाथ की पहुँच में आ गयी थी। अपनी समवेदना का हाथ बढ़ा वह उसे पा जाना चाहता था। उसने

अपना प्रणय-निवेदन कर दिया। दिव्या ने बहुत मनो-मन्थन के बाद उत्तर दिया—"प्रश्रय के मूल्य जीवन की सार्थकता नहीं चाहती। जीवन की विफलता में भी मुझे वेश्या की आत्मनिर्भरता स्वीकार है।"

मारिश निराश होकर चला गया।....

दीर्घकालीन प्रवास के बाद रुद्रधीर सागल लौट रहा था। अंशुमाला की कीर्ति-कौमुदी से प्रभावित होकर एक दिन वह भी रत्नप्रभा के सङ्गीत-समाजमें उपस्थित हुआ। पृथुसेन का वह प्रति-स्पर्द्धी बाहर से रूखा होने पर भी भीतर से दिव्या के प्रति रस-स्निग्ध था, उसे स्वायत्त करना चाहता था।

....रत्नप्रभा के समाज में दिव्या को पहिचान कर रुद्रधीर अनेक क्षण विस्मय से जड़वत् रह गया। उसे ऐसा जान पड़ा—कोमल, पुनीत कुल-कन्या दिव्या के मृत शरीर पर निर्लज्ज वाराङ्गना अंशुमाला ताण्डव कर रही है। फिर भी वह उसके प्रति अपना आकर्षण रोक नहीं सका। उसने भी दिव्या से प्रणय-निवेदन किया—"भद्रे, काञ्चन की खान से लौह उत्पन्न नहीं हो सकता। वंश और कुल मनुष्य की शक्ति से ऊपर देवता की कृति है। मनुष्य न कुल दे सकता है, न छीन ही सकता है। तुम्हारी धमनियों में विप्र का रक्त है। कीचड़ में गिर कर भी स्वर्ण पत्थर नहीं हो सकता। रुद्रधीर प्रतिज्ञा करता है, सागल के आचार्य्य-पद पर वह तुम्हें पत्नी रूप से ग्रहण करेगा।"

दिव्या ने विनय से मुस्करा दिया—"आर्य्य की भावना के प्रति दासी अत्यन्त कृतज्ञ है। अपनी प्रवृत्ति के कारण दासी कुल-

वधू के सम्मान के योग्य नहीं। दुर्भाग्य की अग्नि में जल कर दासी ने स्वतन्त्र नारी का कलङ्क पाया है। वही उसे प्रिय है।"

....रुद्रधीर सागल लौट गया। अपनी राजनीतिक कूटनीति से उसने वहाँ श्रेष्ठिकुल की सत्ता को परास्त कर दिया। पृथुसेन को प्राण बचाना मुश्किल हो गया, उसे बौद्ध विहार में आश्रय मिला। परिस्थितियों ने सचमुच उसका अन्तःकरण सात्त्विक बना दिया।

....नये राज्य का नया उत्तराधिकारी रुद्रधीर हो गया, किन्तु देवी मल्लिका की कला अपनी उत्तराधिकारिणी से शून्य थी। उत्तराधिकारिणी खोजने के लिए वे वृद्धावस्था में तीर्थयात्रा के लिए चल पड़ीं। मथुरापुरी पहुँच कर अपनी भूतपूर्व शिष्या रत्नप्रभा की अतिथि हुईं। अंशुमाला की कीर्त्ति वे भी सुन सकी थीं, किन्तु यह नहीं जानती थीं कि वह कौन है! रत्नप्रभा ने जब उसे उनकी सेवा में उपस्थित किया तब पहिचान कर आलिङ्गन में समेट कर क्रन्दन कर उठीं—'दिव्या, दिव्या! मेरी पुत्री, मेरी आत्मा की सन्तान....!'

आतिथ्य के भेंट-स्वरूप दिव्या को साथ लेकर देवी मल्लिका फिर सागल लौट आयीं। फाल्गुन की पूर्णिमा के शुभ अवसर पर उसके कलाभिषेक के लिए समारोह का आयोजन किया गया। किन्तु उत्सव के दिन रङ्ग में भङ्ग हो गया। आचार्य्य भृगुशर्म्मा ने क्रुद्ध होकर कहा—मद्र में द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठ, जन के लिए भोग्य बन, वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती।

दिव्या ने कहा---मैं इस विषय में महा आचार्य्य रुद्रधीर का निर्णय सुनना चाहती हूँ।

रुद्रधीर ने कहा---वर्णाश्रम की व्यवस्था त्रिकाल के लिए सत्य है।

इस निर्णय से दिव्या फिर निराधार हो गयी। वह अप्सरा के वेश में ही पान्थशाला की ओर चल पड़ी, ठौर-ठिकाना पाने के लिए। एक क्षण पहिले जिसे सम्मान मिल रहा था, अब उसे ही लाञ्छना मिल रही थी। कैसी है यह सामाजिक विडम्बना!

दिव्या को अवलम्ब देन के लिए बौद्ध भिक्षु पृथुसेन ने अभ्यर्थना की। थोड़ी देर बाद रुद्रधीर भी पान्थशाला में आ पहुँचा। उसने आमन्त्रण दिया---देवी, तुम्हारा स्थान नर्तकी वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुलकन्या हो। तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर, कुलमाता के आसन पर है। आचार्य्य रुद्रधीर देवी को आचार्य्य-कुल की महादेवी के आसन पर स्थान देने के प्रयोजन से उपस्थित है। देवी, अपना आसन स्वीकार कर आचार्य्य को कृतार्थ करो।

दिव्या भला इस प्रवञ्चना से, इस लोलुप प्रस्ताव से, कैसे आश्वस्त हो सकती थी! वह तो भुक्तभोगी थी।

,...धूलिधूसरित पगों से आकर एक पथिक बोला---मारिश देवी को राजप्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण का चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख-दुख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूलिधूसरित मार्ग का

पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है। ....सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।"

कथा-शिल्प

—यह है इस उपन्यास का संक्षिप्त कथानक और सारभूत निष्कर्ष। लेखक ने इसमें सामन्त-युग की अभी तक वर्तमान आर्थिक, धार्मिक, नैतिक व्यवस्था को खण्डित कर किसी नवीन व्यवस्था की स्थापना नहीं की है, केवल जीवन को देखने के लिए एक पार्थिव दृष्टिकोण निर्दिष्ट कर दिया है। इस दृष्टिकोण से सांस्कृतिक मतभेद हो सकता है, किन्तु सिद्धान्त ही सब कुछ नहीं है, उपन्यास पर चरित्र-चित्रण और लेखन-कला की दृष्टि से भी विचार करना चाहिये, इसके बिना कोई भी सिद्धान्त गरिष्ठ हो जाता है। सैद्धान्तिक विचारों के कारण यद्यपि 'दिव्या' का कथा-प्रवाह कुछ बोझिल हो गया है, कहानी के क्षेत्र में यत्र-तत्र निबन्ध आ गया है, तथापि पौष्टिक तत्त्व की तरह वह भी रसायन बन गया है। औपन्यासिक शिल्प-कुशलता से सब कुछ मनोरम हो गया है।

जहाँ तक कथानक और उसके निष्कर्ष का सम्बन्ध है, लेखक ने घटना-क्रम के संयोजन में स्वाभाविकता का परिचय दिया है। कुछ अस्वाभाविकता उस अध्याय में जान पड़ती है जिसमें लेखक ने विलायती ढंग का सामूहिक युग्मनृत्य दिखलाया है। क्या उस युग में ऐसी प्रथा थी?

प्राचीन रीति-नीति और धारणाओं पर विश्वास न होते हुए भी यशपाल जी ने उस युग के वातावरण और अन्तःकरण को इतनी सफलता से अंकित किया है कि आश्चर्य्य होता है। शब्द यद्यपि कहीं-कहीं बोलचाल के हैं, तथापि भाषा प्रायः सांस्कृतिक है जो उस युग के भावों, विचारों और परिस्थितियों को सजीव कर देती है।

इस उपन्यास के सभी पात्र-पात्रियों का चरित्र-चित्रण बहुत स्वाभाविक है। ऐसा लगता है कि हम उन्हें उपन्यास में ही नहीं, उस युग के समाज में पहुँच कर प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

सभी पात्र-पात्रियों के ऊपर दिव्या का व्यक्तित्त्व अनुरागिनी उषा और विषादिनी संध्या की तरह शोभायमान है। उसी की आत्मा अमृतलोकवासिनी जान पड़ती है, शेष प्राणी तो इस मर्त्यलोक के सांसारिक जीव हैं।

दैहिक प्रवृत्तियों से परिचालित होकर भी दिव्या की चेतना का पतन नहीं हुआ है। कन्या, माता, वेश्या, सर्वहारा, यह सब कुछ होकर भी इनमें से वह कोई नहीं है। वह तो चिरन्तन सरला सुशीला बालिका है। कौमार्य्य की उस प्रफुल्ल कमलिनी को परिस्थितियों ने करुण निरीह बना दिया, फिर भी वह वही दिव्या है। उसकी सृष्टि कर लेखक ने अपनी कलात्मक सुरुचि को साकार किया है।

दिव्या के साथ लेखक की सहानुभूति ही नहीं, ममता है, आत्मीयता है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि अपनी इस मानसी

सृष्टि को अपना सकने में लेखक भी पृथुसेन की तरह ही असमर्थ हो गया। उसे चारवाक-पन्थी मारिश की शरण में चली जाने दिया। लेखक ने उस युग के अनुरूप प्रगतिशील विचारों का प्रतिनिधि मारिश को बनाया है।

यशपाल की आत्मा तो छायावाद की है, किन्तु जीवन की वास्तविकता ने उन्हें यथार्थवादी बना दिया है। उनके दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि वह सुचिन्तित और सन्तुलित है। अन्य प्रगतिशील लेखकों की अपेक्षा यशपाल की यह विशेषता है कि वे देश-काल-पात्र का ध्यान रखते हैं। इसीलिए उनकी रचनाओं में स्वाभाविकता है और यथास्थल सौष्ठव भी है। 'दिव्या' उनकी स्थायी कृति है।

काशी,

२८।६।५५

साहित्य में अश्लीलता

अश्लीलता साहित्य में ही नहीं, समाज में भी फैली हुई है, वहीं से वह साहित्य में आयी है। छोटे-छोटे बच्चे दीवालों पर अश्लील वाक्य लिख देते हैं, उन्हें इसकी प्रेरणा कहाँ से मिली ?

अपने यहाँ होली का त्यौहार तो अश्लीलता का ही त्यौहार माना जाता है। सभी देशों में किसी न किसी रूप में यह त्यौहार मनाया जाता है, इससे मनुष्य की उद्दाम प्रवृत्ति का सञ्चित आवेग बाहर निकल जाता है। ऐसे अवसरों पर ही ज्ञात होता है कि बाहर का सभ्य मनुष्य भीतर कैसा प्राकृत प्राणी है, अभी कितने अंश में उसे सुसंस्कृत होना है।

आहारादि अष्ट प्रवृत्तियाँ मनुष्य में भी हैं। ये प्रवृत्तियाँ ही उसके भौतिक अस्तित्व की सञ्चालिका हैं। ये मनुष्य की प्रकृति भी हैं और विकृति भी, जैसे भूख-प्यास और उससे उत्पन्न मल-मूत्र। आहार-विहार स्वाभाविक और अनिवार्य्य है, किन्तु विकृतियों का विमोचन भी उतना ही स्वाभाविक और आवश्यक है। वही मनुष्य को प्रकृति से संस्कृति की ओर ले जाता है। साहित्य और समाज में अश्लीलता के प्रति असन्तोष, संस्कृति का ही विक्षोभ है।

मनुष्य पशुओं की तरह संस्कृति के बिना भी जी सकता है। उस स्थिति में वह जड़-जङ्गम हो जायगा। मनुष्य की विशेषता उसकी चेतना में है, तभी तो वह शौचाशौच का विवेक रखता है, पशुओं की तरह फूहड़ और घिनौना नहीं बना रहना चाहता;

अपनी चेतना का सदुपयोग स्वास्थ्य, सुरुचि और सौन्दर्य्य में करता है। उसकी चेतना से ही संस्कृति और कला का आविर्भाव होता है।

कला की दृष्टि से जीवन और साहित्य में शृङ्गार रस को भी स्थान दिया गया है। इस रस के दुरुपयोग का ही नाम अश्लीलता है। पुराने कवियों से लेकर आज तक के कई तथाकथित कवियों और लेखकों की कृतियों पर अश्लीलता का आरोप किया जाता है। यद्यपि हम कलाकार को राजनैतिक बन्धनों की तरह नैतिक बन्धनों में बाँधने के पक्ष में नहीं हैं, तथापि उससे उत्तरदायित्व की आशा तो रखते ही हैं।

शृङ्गारिक रचनाओं में कलाकार का उत्तरदायित्व क्या है? वही जो नारी के प्रति पुरुष का है। नारी को अपमानित करने के लिए जो चित्र और दृश्य उपस्थित किये जायँगे वे पुरुषत्व के नहीं, बर्व्वरता के प्रमाण होंगे। दुर्य्योधन ने भरी सभा में द्रौपदी को नंगी कराना चाहा था, किन्तु कृष्ण ने उसकी लाज बचा ली थी। उन्हीं कृष्ण ने यमुना तट पर गोपियों का चीरहरण कर कदम्ब की डाल पर उसके पत्तों की तरह ही लटका दिया था। क्या गोपियों ने द्रौपदी की तरह आर्त्तनाद किया था? नहीं, वे तो व्रीड़ा की क्रीड़ा से अपने शरीर में ही सकुच कर कला की *मौन भावभङ्गिमा बन गयी थीं। यह क्यों?*—*वह तो* कृष्ण की प्रेमलीला थी। गोपियाँ उनसे स्नेह करती थीं। स्नेह ही स्नेह को पहिचानता है। जहाँ स्नेह नहीं होता वहाँ कोई भी व्यवहार बलात्कार और अत्याचार जान पड़ता है।

प्रश्न श्लीलता और अश्लीलता का नहीं, भावना और उद्देश्य का है। यदि भावना दूषित नहीं है, उद्देश्य शुभ है, तो साहित्य में नग्न चित्रण भी निन्दनीय नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि से डाक्टर जैसे शरीर को निरावृत रूप में देखता है वैसे ही कलात्मक दृष्टि से साहित्यकार भी देख सकता है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि साहित्य में नग्न चित्रण नितान्त आवश्यक है। कलाकार की दूरदर्शिता, उसकी कला की सफलता इस बात में है कि वह चित्र को कहाँ किस सीमा तक निरावृत रूप में उपस्थित करे और कहाँ किस सीमा तक अवगुण्ठित रूप में।

साहित्य के लिए कोई भी विषय वर्जनीय नहीं है। उसमें सभी रसों और भावों का सामञ्जस्य हो सकता है। वह समुद्र है। आवश्यकता इस बात की है कि सङ्गीत में स्वर और लय की भाँति साहित्य में विभिन्न भावों का सुसंगत और सरस सामञ्जस्य हो। बेमौके की शहनाई अच्छी नहीं लगती और किसी समय गाली भी अच्छी लगती है। कलाकार में यदि समय-असमय की परख नहीं है तो वह दुनियादारों से भी गया-गुजरा है।

सुप्रसिद्ध कथाशिल्पी शरच्चन्द्र ने अपने एक पत्र में लिखा है—"आलिङ्गन तो दूर की बात रही, चुम्बन शब्द को भी अपनी पुस्तक में नितान्त बाध्य न होने पर मैं नहीं दे सकता।...दोष की बात है, यह नहीं कहता, फिर भी न जाने क्यों मुझसे लिखा नहीं जाता। हमारे समाज में स वस्तु को लोग गोपन रखना चाहते हैं।"

यदि शरच्चन्द्र की कृतियों में चुम्बन-आलिङ्गन नहीं है तो इसका

कारण यह है कि उनके वातावरण और चरित्र-चित्रण में इसकी आवश्यकता नहीं थी। वे अपनी सीमा को पहिचानते थे। यदि लेखक का उद्देश्य सस्ता मनोविनोद देना नहीं है तो यथास्थल घोर वासना का भी चित्रण किया जा सकता है, फिर भी कुरुचि नहीं उत्पन्न हो सकती। 'सुनीता' में जैनेन्द्र जी ने नारी को ऐसे विक्षिप्त अनाच्छादित रूप में उपस्थित किया है कि वासना से अरुचि हो जाती है।

अश्लीलता के लिए ब्रजभाषा की शृङ्गारिक कविताएँ बदनाम हैं। किन्तु वे कविताएँ ऋतुओं की तरह ही प्रकृति के स्वाभाविक क्रम में प्रस्फुटित हुई हैं, अतएव उनमे देह का उद्दीपन ही नहीं, मन का रसोत्कर्ष भी होता है। उनमें अश्लीलता नहीं, मधुर भावप्रवणता है। यत्र-तत्र छायावाद की रचनाओं में भी ऐसी शृङ्गारिक भावप्रवणता मिलती है।

ठीक अर्थ में साहित्य में अश्लीलता का आरम्भ उस वैज्ञानिक युग में होता है जिस युग में कृत्रिम रति और कृत्रिम सन्तति-निरोध का प्रचार होने लगा। यह युग यथार्थवादी युग कहलाता है। भावना और साधना से शून्य इस युग में मनुष्य ने अपनी उच्छृङ्खलता को सही साबित करने के लिए न जाने कितने बहाने बना लिये हैं। सबसे अधिक अनर्थ साहित्य में प्रगतिवाद और फ्रायडियन दृष्टिकोण के कारण हो रहा है।

जीवन में काम-विज्ञान का भी अपना एक महत्त्व है। किन्तु साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता का विचार कामशास्त्र की दृष्टि से

नहीं, नीतिशास्त्र की दृष्टि से किया जाता है। इस दृष्टि से हम अश्लीलता किसे कहें? एक देश के लिए जो अश्लील है वह दूसरे देश के लिए श्लील है, जैसे पश्चिमीय देशों में पति-पत्नी का सबके बीच औपचारिक चुम्बन और कटि-आलिङ्गन। विवाह-सम्बन्धी पारिवारिक नियम भी भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी सभी देशों में नर-नारी के कुछ ऐसे गोप्य सम्बन्ध होते हैं जिनका सार्वजनिक रूप से उद्घाटन करना अश्लील कहा जा सकता है।

साहित्य में अश्लीलता का कारण क्या है?——अतृप्ति, असंस्कारिता, असामाजिकता। सभी देशों की आर्थिक और नैतिक व्यवस्था में कोई न कोई ऐसी त्रुटि रहती है कि उसी की प्रतिक्रिया अश्लीलता में भी होती है और अन्यान्य दुष्प्रवृत्तियों में भी।

सम्प्रति अश्लीलता का कारण विषम अर्थशास्त्र है। उससे कहीं तो विलास का बाहुल्य हो गया है और कहीं अत्यन्त अभाव से मनष्य अतृप्त हो गया है। दोनों का परिणाम एक-सा ही अशोभन है।

अतृप्ति का कारण मनोवैज्ञानिक और नैतिक भी हो सकता है। रुचि और स्वभाव के पार्थक्य से विफल प्रेम मनोवैज्ञानिक है। वासना की उच्छृङ्खलता से निष्ठुर विलास अनैतिक है। किसी भी स्थिति में कर्त्ता और भोक्ता मन है, अतएव प्रणय को मनसिज होना चाहिये, न कि केवल देह का आकर्षण-विकर्षण।

साहित्य और समाज में फैली हुई अश्लीलता को रोकने का उपाय क्या है? मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र के द्वारा मनुष्य की

विकृतियों का निदान और नियन्त्रण किया जा सकता है, कामशास्त्र के द्वारा उसे ऐन्द्रयिक शिक्षण दिया जा सकता है, किन्तु इन उपायों से मन का स्वतः प्रस्फुरण नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि विद्यालयों में शिक्षा, अनुशासन और निर्देशन के लिए न जाने क्या-क्या उपाय नहीं किये जाते, फिर भी छात्रों का कोई मनोविकास नहीं हो रहा है। जो स्थिति छात्रों की है वही स्थिति सारे समाज की है, क्योंकि सबका वायुमण्डल एक है।

आवश्यकता है कला और संस्कृति से जनता में सौन्दर्य्य-बोध और विश्वबोध जगाने की। किन्तु कला और संस्कृति अपने प्रयत्न में तभी सफल हो सकती है जब अर्थशास्त्र भी उन्हीं की तरह सजीव हो, चैतन्य हो।

काशी,
३-१०-५५

हिन्दी का आलोचना-साहित्य

हिन्दी के आलोचना-साहित्य की परम्परा रीतिकाल से आरम्भ होती है। उस काल में आलोचना का वह स्वरूप तो नहीं मिलता जो संस्कृत-साहित्य में मिलता है, जैसे उद्भट विद्वानों द्वारा काव्य के गुण-दोष का विवेचन और साहित्यिक विकृतियों का परिशोधन। संस्कृत से रीतिकाल ने इतना ही आभार ग्रहण किया कि अलङ्कारों को काव्य में ग्रथित कर लिया और कविता-सुन्दरी को नख-शिख के सौन्दर्य्य से चित्रित कर नायिका-भेद मे नारी के 'काम-विज्ञान (श्रृङ्गारिक मनोविज्ञान) का परिचय दिया। हिन्दी में वह काव्य-शास्त्र और कोकशास्त्र का रसात्मक युग था। सभी युगों में उसकी उपयोगिता बनी रहेगी। उस समय कवियों में एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की प्रतिद्वन्द्विता थी और पाठकों में रसमर्म्मज्ञता। कवि और पाठक के बीच आलोचक का आविर्भाव नहीं हुआ था जो कवियों की विशेषता और उनकी विच्युतियों का निदर्शन करता तथा पाठकों को अध्ययन का समीक्षात्मक दृष्टिकोण देता।

मध्ययुग के साम्राज्य की तरह शताब्दियों तक इस देश में व्रजभाषा का आधिपत्य था। उसी युग के वातावरण और रहन-सहन-संस्कार का अभ्यास बीसवीं सदी के आरम्भ तक चला आया। यद्यपि १९ वीं सदी में सार्वजनिक जागृति आ गयी थी, काव्य के

बाद जीवन गद्य की ओर उन्मुख होता जा रहा था, तथापि यन्त्रो-द्योगों से रस का अभाव नहीं हो गया था।

बीसवीं सदी के आते-आते पुराना साहित्य और समाज स्मृतिशेष होने लगा। प्रतिध्वनि की तरह रीतिकाल की मधुरता वायुमण्डल में बनी हुई थी, किन्तु ब्रजभाषा का प्रतिनिधित्व विरल हो गया था; एकाध को छोड़ उल्लेखनीय कवि अधिक नहीं थे। ब्रजभाषा के मर्म्मज्ञ पुराने कवियों के काव्यग्रन्थों की टीका प्रस्तुत करने लगे। इसकी आवश्यकता थी।

बीसवीं सदी की भाषा और विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने के लिए 'सरस्वती' (मासिक पत्रिका) का जन्म हुआ। खड़ीबोली का युग आया। आरम्भ में इसका साहित्य ललित-कलित नहीं था। अतएव, पुरानी रुचि के काव्य-समीक्षकों का आकर्षण ब्रजभाषा की ओर था। वे नये कवियों की अपेक्षा मध्ययुग के शृङ्गारिक कवियों की यथारुचि तुलनात्मक समालोचना करने लगे। ऐसे समालोचकों में मिश्रबन्धु, पण्डित कृष्णविहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्म्मा, लाला भगवान 'दीन' अग्रगण्य हैं। शर्म्मा जी की लेखनी से हिन्दी-गद्य का रसोत्कर्ष हुआ।

.'सरस्वती' के द्वारा खड़ीबोली की स्थापना हुई। इस नयी भाषा के गद्य-पद्य का विस्तार होने लगा। ब्रजभाषा के बाद खड़ी-बोली की कविताओं की आलोचना होने लगी। नयी कविता के नये आलोचक अभी उत्पन्न नहीं हुए थे। ब्रजभाषा के समीक्षक

ही खड़ीबोली की कविता की आलोचना करने लगे। लाला भगवान दीन के स्वभाव में सरसता और कलम में तीक्ष्णता थी।

द्विवेदी-युग

ब्रजभाषा के बाद 'सरस्वती' द्वारा खड़ीबोली के संस्थापक के रूप में द्विवेदी-युग आया। आचार्य्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ब्रजभाषा की अपेक्षा संस्कृत-साहित्य का सहारा लिया। उसी के आधार पर 'अस्थिरता-अनस्थिरता' का शाब्दिक विवाद चला और उसी के आदर्श पर खड़ीबोली में काव्य-समीक्षा का सूत्रपात हुआ। (देखिये 'नैषधचरितचर्चा' और 'कालिदास की निरङ्कुशता')। काव्यचर्चा के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में अनेक विषयों पर लेख प्रकाशित कर हिन्दी के निबन्ध-साहित्य को विविधता दी। उस समय के लेखकों में सन्त निहाल सिंह और स्वामी सत्यदेव गण्यमान्य हैं। गद्य में स्वामी जी का वही उत्प्रेरक और ओजस्वी स्थान है जो पद्य में बाबू मैथिलीशरण गुप्त का।

द्विवेदी जी के सत्प्रयास से खड़ीबोली के वाङ्मय को फलने-फूलने के लिए विस्तृत क्षेत्र मिला। क्रमशः जब इसका साहित्य भी सुसम्पन्न हो गया तब जीवन की भाँति साहित्य का भी सैद्धान्तिक विवेचन होने लगा। सैद्धान्तिक समीक्षा के प्रवर्त्तक श्रद्धेय आचार्य्य बाबू श्यामसुन्दरदास हैं। संस्कृत के सम्पर्क से उनका हृदय तो सांस्कृतिक था, किन्तु बौद्धिक दृष्टि से वे अंग्रेजी से प्रभावित थे, हिन्दी के सिविलियन थे। भारतेन्दु-युग के बाद बाबू श्यामसुन्दर दास हमारे आधुनिक साहित्य के शीर्षनाम प्रतिनिधि हैं। काशी-

नागरी-प्रचारिणी सभा के रूप में उन्हीं के प्रयत्नों से हिन्दी का प्रारम्भिक प्रचार हुआ, 'सरस्वती' का जन्म हुआ। उन्होंने ही द्विवेदी-युग के लिए धरातल प्रस्तुत किया।

शुक्ल जी का आचार्यत्व

बाबू साहब के बाद आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक सिद्धान्तों को सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया। उनका हृदय भी सांस्कृतिक था, किन्तु बौद्धिक दृष्टि से वे देहात्मवादी थे, इसीलिए सगुण रूप में प्रत्यक्ष सृष्टि को विशेष महत्त्व देते थे। उन्होंने रहस्यवादी कवि जायसी का भी काव्य-विवेचन किया है, परन्तु उनका मन सगुण कवियों (सूर-तुलसी) की कृतियों में ही अधिक रमा है। जान पड़ता है, प्रौढ़ावस्था में सांसारिक अनुभवों ने उन्हें परुष बना दिया था, इसीलिए एक ओर जीवन को देखने का उनका दृष्टिकोण स्थूल (सगुण) हो गया, दूसरी ओर भाव (सूक्ष्मता) का अभाव हो गया। काव्य में लालित्य और जीवन में नारीत्व को अस्तित्व वे नहीं दे सके। सगुणोपासक होते हुए भी उनमें निर्गुण कवियों की-सी शुष्कता आ गयी। वे पौरुषवान समीक्षक थे। सगुण सृष्टि के प्रति आकृष्ट होने के कारण उनमें रसाभास भी बना रहा और इसीलिए वे कला के रूप-रंग के भी निरीक्षक, परीक्षक और समीक्षक थे। अपने प्रारम्भिक जीवन में ड्राइङ्ग-मास्टर थे।

गोचर सृष्टि (प्रत्यक्ष जगत्) के प्रति शुक्ल जी का मनोयोग

किसी वैज्ञानिक (अन्वेषक) का नहीं, पर्य्यवेक्षक का था; अतएव वे सर्वथा यथार्थवादी नहीं हो गये। प्राकृतिक दृश्यों के आकर्षण ने उनमें कलानुराग बनाये रखा। वे प्रकृति की तरह ही धर्म्म और काव्य को भी एक मूर्त्त रूप देकर देखते थे। जीवन की कोमलता-मधुरता से अवगत थे, किन्तु उनकी स्वाभाविक रुचि पुरुषत्त्व की ओर थी। कृष्ण-काव्य की अपेक्षा राम-काव्य उनके मनोनुकूल था। फिर भी जैसे उन्होंने राम-काव्य के अतिरिक्त कृष्ण-काव्य और सूफ़ी-काव्य को भी देखा-परखा, वैसे ही साहित्य की सभी प्रवृत्तियों का पर्य्यवेक्षण किया। उनमें रुचिभिन्नता थी, किन्तु सङ्कीर्णता नहीं थी। उनकी बोधेन्द्रिय सजग थी।

प्रगतिशील युग के पहले शुक्ल जी ने ही साहित्य को जीवन के सान्निध्य में रख कर देखा। केवल कृतियों की आलोचना नहीं, बल्कि इस सांस्कृतिक देश के सामाजिक निर्म्माण का रचना-विधान और उसका जीवन-दर्शन उनकी समालोचना में समाविष्ट है। काव्यग्रन्थों की आलङ्कारिक टीका और कवियों की तुलनात्मक समालोचना के युग में शुक्ल जी की समीक्षा ने साहित्य को देखने-समझने के लिए व्यापक दृष्टिकोण दिया। उसे वाङमय का ही नहीं, अनुभव का भी विषय बना दिया।

बाबू साहब का 'साहित्यालोचन' अध्ययन-प्रधान है; शुक्ल जी के साहित्यिक इतिहास में अध्ययन, मनन, चिन्तन का समावेश है। अंग्रेजी के माध्यम से वे विश्वसाहित्य से परिचित थे, किन्तु अपनी आत्मचेतना (भारतीय चेतना) के कारण उसका अन्ध अनुकरण

नहीं किया। अंग्रेजी की १९वीं सदी की दृष्टि से हिन्दी के लिए आधुनिक और बीसवीं सदी की दृष्टि से मध्ययुगीन साहित्य-कार थे। अपनी आलोचनाओं द्वारा उन्होंने प्राचीन भारतीय वाङ्मय का नवीन भाष्य किया। काव्य में रस और अलङ्कार को विशेष महत्त्व दिया। रवीन्द्रनाथ को भी प्रकाण्ड आलङ्कारिक मानते थे। अपनी वैधानिक समीक्षा से वे अर्वाचीन साहित्य में के भी अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग को परख लेते थे। रस में भाव का मनोविज्ञान और अलङ्कार में काव्यकला की प्रक्रिया देखते थे। दृष्टिकोण में वार्द्धक्य और तारुण्य का अन्तर पड़ जाने पर भी उनमें बुढ़भस नहीं था। वे गुरु गम्भीर गृहस्थ थे, इसी लिए रूढ़िवादियों की तरह लकीर के फकीर नहीं थे और न स्वच्छन्दतावादियों की तरह मनमाने। नवीन साहित्यकारों को उन्होंने प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिए दृष्टिकोण दिया, पुरानी परिपाटी के साहित्यकारों को नवीन साहित्य को समझने के लिए साधन दिया। वे प्राचीन और नवीन साहित्य के मध्यस्थ थे, पथ-प्रदर्शक थे। उन्होंने ही हिन्दी के आलोचना- साहित्य को सुव्यवस्थित रूप दिया।

मध्ययुग और भारतेन्दु-युग का साहित्य तो समृद्ध था ही, शुक्ल जी के आचार्यत्व-काल में द्विवेदी-युग का साहित्य भी समुन्नत हो चुका था। काव्य में मैथिलीशरण गुप्त, कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचन्द, नाटकों में जयशङ्कर 'प्रसाद' प्रतिनिधित्व कर रहे थे। युनिवर्सिटियों में इनका साहित्य भी स्थान पा गया।

उस समय हिन्दू-विश्वविद्यालय में साहित्य-समीक्षा की दो

प्रणालियाँ प्रचलित हुईं—(१) ब्रजभाषा के काव्यों की रूढ़िगत समीक्षा, इसके प्रतिनिधि लाला भगवान 'दीन' थे। (२) साहित्य की तात्त्विक समीक्षा, इसके प्रतिनिधि बाबू श्यामसुन्दरदास और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल थे। इन्हीं महानुभावों के शिष्य-प्रशिष्य हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में अपनी गुरु-परम्परा बनाये हुए हैं।

छायावाद का पठन-पाठन

विश्वविद्यालयों में जब द्विवेदी-युग का साहित्य पढ़ाया जा रहा था, तब छायावाद का भी अभ्युदय हो चुका था, किन्तु वह अभी अस्पृश्य था। रीतिकालीन रुचि के काव्यप्रेमी तो उसे नापसन्द करते ही थे, अपेक्षाकृत आधुनिक रुचि के आचार्य्य शुक्ल जी भी एकाएक उसे पसन्द नहीं कर सके। किन्तु हिन्दी-काव्य का यह नवीन वसन्त नये तरुणों को रससिक्त करने लगा। भाषा, भाव और शैली को लेकर साहित्य में फिर वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ था। किन्तु उस समय के आचार्य्यों और हिन्दी के पाठ्यक्रमों से छायावाद बहिष्कृत ही रहा। तब मेरी किशोरावस्था थी। छाया-वाद के समर्थक अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त नवप्रबुद्ध युवक थे। मैं अंग्रेजी बिलकुल नहीं जानता था, किन्तु छायावाद के काव्य का सौन्दर्य्य और माधुर्य्य मेरी नयी इन्द्रियों में भिन गया था। मैंने उस समय के छायावाद के कुछ प्रमुख कवियों की कविताओं का संग्रह 'परिचय' में प्रस्तुत किया। छायावाद की कविताओं का वही पहला संग्रह है जो स्वान्तःसुखाय था। उसका स्वागत हुआ। आचार्य्य पण्डित केशवप्रसाद मिश्र ने उसे हिन्दू-विश्वविद्यालय के

पाठ्यक्रम में रख लेने का प्रस्ताव किया। बाबू श्यामसुन्दरदास हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे। अपनी ही सांस्कृतिक परम्परा के एक आचार्य के उक्त प्रस्ताव का समर्थन आचार्य शुक्लजी ने किया। इस तरह छायावाद का भी प्रवेश विश्वविद्यालय में हो गया। इसका श्रेय उन्हीं द्विवज्ञत आचार्यों को है।

उस समय हिन्दी-साहित्य के नये आलोचक अपनी छात्रावस्था में थे। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ज्योतिष पढ़ रहे थे। पण्डित नन्ददुलारे बाजपेयी और पण्डित रामअवध द्विवेदी एम० ए० के विद्यार्थी थे। छायावाद का आकर्षण इन विद्यार्थियों में पहुँच चुका था, किन्तु परीक्षा के लिए वे बँधे-बँधाये ढंग से पढ़ रहे थे। एकैडेमिक और रोमैण्टिक, इस दुहरे वातावरण में उनका साहित्यिक संस्कार बन रहा था। हृदय-पक्ष अवचेतन की तरह दबा हुआ था। उस समय के नये साहित्यप्रेमियों में से सुधांशु जी साहित्य से अवकाश लेकर राजनीति में चले गये हैं। उनके साहित्यिक जीवन की स्मृति 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' है। उसके द्वारा शुक्ल जी के काव्य-कला-सम्बन्धी विचारों से नयी पीढ़ी का मतभेद व्यक्त हुआ।

उस समय मैं मुक्त सृष्टि की तरह ही स्वतन्त्र था। छायावाद का काव्य-साहित्य तो श्रीसम्पन्न हो गया था, किन्तु उसकी आलोचना का मार्ग नहीं बन सका था। मुझे कवि सुमित्रानन्दन पन्त की कविताओं से भाषा और कविगुरु रवीन्द्रनाथ के लेखों से भाव-व्यञ्जना मिली। मैं छायावाद का हृदय खोलने लगा। ब्रजभाषा के कवियों पर तो बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा चुके थे, किन्तु उस समय छायावाद

के कवियों पर ग्रन्थ लिखना तो दूर, लेख लिखा जाना भी बड़ी बात समझी जाती थी। कुशल पत्रकार पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादन-काल में 'विशाल भारत' में मैंने ही सबसे पहले पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी की कविताओं पर लेख लिखे। इस तरह ब्रजभाषा और खड़ीबोली के रूढ़ वातावरण में छायावाद के लिए दृष्टिकोण उत्पन्न किया। इसके बाद रामनाथ 'सुमन' ने 'माधुरी' में प्रसाद जी की काव्य-कृतियों पर धारावाहिक लेख लिखे जो 'प्रसाद की काव्यसाधना' के नाम से पुस्तकाकार हो गये। 'परिचय'-नामक काव्य-संग्रह के प्रकाशित होने के पहले ही सुमन जी ने छायावाद पर कई लेख लिखे थे, किन्तु उन लेखों में प्रचार की प्रधानता और रस-सञ्चार का अभाव था।

साहित्य में छायावाद के स्थान बना लेने और अध्ययन का विषय स्वीकृत हो जाने पर भी आचार्यों में उसके प्रति तीव्र मतभेद और घोर असन्तोष था। इसी का परिणाम शुक्ल जी का 'काव्य में रहस्यवाद' है। पुराने लोगों में बाबू गुलाबराय ने छायावाद का साथ दिया। शुक्ल जी से उन्होंने मतभेद प्रकट किया। हिन्दू-विश्वविद्यालय के बाद आगरा-विश्वविद्यालय के भावुक छात्रों में छायावाद के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का श्रेय कदाचित् गुलाबराय जी को है।

आचार्य्य द्विवेदी जी के उत्तराधिकारी सम्पादक बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी 'सरस्वती' में (सन्, २४ में) पन्त जी की कविताओं को धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर छायावाद की काव्य-कला को प्रश्रय दिया था। यद्यपि उनका संस्कार भी द्विवेदी-युग का ही था, इसीलिए आरम्भ में पन्त जी के 'उच्छ्वास' का

उन्होंने उपहास किया था; तथापि उनमें द्विवेदीजी-जैसी कट्टरता नहीं थी। १६ वीं सदी के अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में किसी अंश तक आधुनिकता थी। साहित्यिक दृष्टि से लिबरल होने के कारण किसी भी व्यवस्थित नवीन प्रयत्न को बख्शी जी प्रोत्साहन देते आये हैं। वे मर्यादित नवीनता के समर्थक हैं। ऐसी ही नवीनता उन्हें पन्त की कविताओं में मिली। 'विश्व-साहित्य'-नामक पुस्तक लिख कर सबसे पहले उन्होंने ही हिन्दी पाठकों को पाश्चात्य साहित्य की गति-विधि से परिचित कराया था। जीवन और साहित्य-सम्बन्धी अन्य विषयों पर भी उन्होंने सुपाठ्य लेख लिखे हैं।

...गुलाबराय जी ने छायावाद की कविताओं का दार्शनिक विश्लेषण किया था। छायावाद और रहस्यवाद को एक ही समझा जाता था। शुक्ल जी और गुलाबराय जी भी ऐसा ही समझते थे। ये आलोचक मध्ययुगीन रहस्यवाद से परिचित थे, अतएव छायावाद की भाव-सूक्ष्मता को उसी के माध्यम से देखने-परखने लगे। यदि इतनी दूर न जाकर मध्ययुग के सगुण काव्य की तुलना में छायावाद की विशेषता को हृदयङ्गम किया जाता तो उसकी नवीनता स्पष्ट हो जाती। रीतिकाल की स्थूल कलाकारिता की अपेक्षा सगुण काव्य की सूक्ष्म रसात्मकता में जो अन्तर पड़ गया था वही द्विवेदी-युग की पद्यकारिता और छायावाद की कविता में। शुक्ल जी जिस प्रकृति के अनुरागी थे उस प्रकृति को काव्य में छायावाद से ही व्यक्तित्व मिला। उसके सुकोमल स्वरूप से उनका चि-वैभिन्य था, उसे एकाङ्गी कहते थे। कालान्तर में शुक्ल जी काव्य-कला की दृष्टि से छायावाद

के प्रति जब कुछ सदय हो गये (फिर भी उसे रहस्यवाद ही समझते रहे), तब उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति को अंग्रेजी प्रभाव के कारण भारतीय दृष्टि से अस्वाभाविक और अन्ध अनुकरण मानते रहे। यह प्रसङ्गान्तर विषय है, अतएव, इस सम्बन्ध में यहाँ अधिक न कह कर केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि शुक्ल जी का आक्षेप किसी अंश तक ठीक है।

छायावाद की भावात्मक समीक्षा के बाद मैंने रहस्यवाद के साथ उसका पार्थक्य स्पष्ट किया। 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' तथा 'कवि और काव्य' में दोनों की व्याख्या और सीमाएँ देखी जा सकती हैं। मेरी मान्यताओं को हिन्दी के एक-दो प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने बिना किसी आभार के ग्रहण कर लिया है, धन्यवाद।....

ये सब बात अब अतीत की कहानी होती जा रही हैं। छायावाद के साथ हिन्दी का गद्य-साहित्य भी द्विवेदी-युग से बहुत आगे बढ़ गया है। शुक्ल जी के समय में जो युनिवर्सिटियों के छात्र थे, अब प्राध्यापक के पद पर बैठ कर गण्यमान्य आलोचक हो गये हैं।

विश्वविद्यालयों की साहित्यिक स्थिति

युनिवर्सिटियों ने हिन्दी के आलोचना-साहित्य की दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं की है, वे बँधी-बँधाई पटरियों पर ही चल रही हैं। उनके पास कोई अपना उपार्जन नहीं है। टूटते हुए जमींदारों की तरह पूर्वजों की कमाई पर जी रही हैं।

इस समय विश्वविद्यालयों में समीक्षा की ये परिमित सीमाएँ हैं—(१) प्राचीन काव्यों का भाष्य और टीका-टिप्पणी। (२)

आचार्य शुक्ल जी का अनुसरण-अनुकरण। (३) शोधकार्य। इन साहित्यिक सीमाओं की भी अपनी-अपनी उपयोगिता है। किन्तु सभी प्रयत्नों के लिए प्रतिभा (मानसिक उर्वरता) और मौलिकता (आत्मप्रज्ञा) की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से देखने पर उक्त प्रयास प्रतिभा-शून्य हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लाला भगवान दीन और आचार्य शुक्ल जी का साहित्यिक संयुक्तीकरण किया है। यद्यपि उनका अध्ययन गतानुगत है, तथापि उनकी मध्यकालीन काव्यरुचि का विकास शुक्ल जी के आधुनिक विवेचन से हो सका है।

शोध का कार्य्य अन्धों का हाथी बन गया है। 'अपने-अपने मत लगें, वादि मचावत शोर' का रोर यहाँ भी सुनाई पड़ता है। अतीत के अज्ञात युग से उठ कर प्राचीन कवि अर्वाचीन साहित्य-शोधकों का खण्डन-मण्डन तो कर नहीं सकते; अतएव उनके नाम, सन्-संवत् और रचनाओं पर चाहे जो भी मनमानी सम्मति बनायी जा सकती है। कबीर-जैसे निरक्षर सन्त के 'खसम' शब्द का चाहे 'ख-सम' अर्थ कीजिये, चाहे सीधा-सादा 'खसम' ही समझ लीजिये। दूर की कौड़ी लानेवाले अन्वेषकों को रचनाकार के स्वभाव, शैली और शब्द-सामर्थ्य का भी ध्यान रखना चाहिये।

राजस्थान के साहित्य-शोधकों ने अच्छा शोध-कार्य्य किया है। नरोत्तमदास स्वामी और सूर्य्यकरण पारीख के सत्प्रयास से हिन्दी संसार सुपरिचित है। स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का नाम इतिहासकार के रूप में चिरस्मरणीय है! स्व० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने मध्ययुग के काव्य-साहित्य पर गहराई से विचार किया है। इधर पण्डित परशुराम चतुर्वेदी सन्त और भक्त कवियों की कृतियों के सामाजिक और ऐतिहासिक

वातावरण और उनकी आत्मसाधना का बड़ी सरसता से साक्षात्कार करा रहे हैं।

साहित्य में एम० ए० पास करने के बाद जिनके पास और कोई काम नहीं रह जाता वे युनिवर्सिटियों में शोध-कार्य्य करते हैं। शोध का विषय प्रायः प्राचीन साहित्य रहता है। जो इस कार्य्य में भी परीक्षोत्तीर्ण हो जाते हैं वे 'डॉक्टर' की उपाधि पा जाते हैं। जैसे किसी जमाने में मैट्रिक और बी० ए० पास करनेवालों की भरमार हो गयी थी वैसे ही अब डॉक्टरों की भरमार हो रही है। यही नहीं, आचार्य्यों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। अपनी साहित्य-साधना के बल पर हिन्दी में दो-तीन ही आचार्य्य (महावीर-प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल) थे, अब प्रत्येक प्राध्यापक आचार्य्य कहलाने लगा है। यह आचार्य्यत्त्व की कैसी छीछालेदर है!

प्राचीन साहित्य तो पर्दे के उस पार ओझल है, उसके सम्बन्ध में दृष्टि-विपर्य्यय हो सकता है। किन्तु इन डॉक्टरों और आचार्य्यों की योग्यता का ठीक परिचय आधुनिक साहित्य पर लिखे उनके लेखों और ग्रन्थों से मिल जाता है। अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि निकम्मी पुस्तकों पर भी डॉक्टरेट की उपाधि मिल गयी है और उनके लेखक विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर बेगार की तरह भार हो गये हैं।

किसी भी युग के साहित्य के अन्वीक्षण के लिए अध्ययन के अतिरिक्त मनन और चिन्तन (अनुभूति और विचार) की भी आवश्यकता है। स्कूलों, कालेजों और युनिवर्सिटियों के अधिकांश अध्यापकों में

अध्ययन, मंनन, चिन्तन का अभाव है। उनका अध्ययन या तो अवकचरा है या अध्ययन के नाम पर चर्वितचर्व्वण, पिष्ट-पेषण और दूसरों का अपहरण मात्र है। फरवरी १९५४ की 'नई धारा' में पण्डित किशोरीदास बाजपेयी ने लिखा था—'एक बिरादरी ही हिन्दी में अलग बन रही है, विश्वविद्यालयों के महारथियों की!'—इस बिरादरी द्वारा श्रमिक साहित्यिकों का शोषण हो रहा है।

आर्थिक और साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी में जितना शोषण मेरा हुआ है उतना किसी का नहीं। आर्थिक शोषण का अपराध क्या पूँजीवाद और प्रकाशकों के मत्थे ही मढ़ा जा सकता है! लेखकों का दायित्व कुछ भी नहीं है? स्कूलों, कालेजों और युनिवर्सिटियों के कई अध्यापक अपनी पाठ्यपुस्तकों में मेरे शब्दों, वाक्यों, अनुच्छेदों को ज्यों-का-त्यों चुरा लेते हैं, मुझे मेरे अधिकार से वञ्चित कर देते हैं।

सन्' ३४ में जबसे 'हमारे साहित्य-निर्म्माता'-नामक पुस्तक प्रकाशित हुई तभी से मेरे साहित्यिक विचारों की चोरी हो रही है। एम० ए० के लिए थीसिस लिखनेवालों से लेकर बाजारू लेखन-व्यवसाय करनेवाले लेखकों में यह बीमारी बढ़ती जा रही है। ऐसी पुस्तकों की भूमिका लिख कर युनिवर्सिटियों के सम्मानित प्राध्यापक अपनी गैरजिम्मेदारी का परिचय देते हैं।

सभी पुस्तकें तो मेरे सामने से गुजरती नहीं, यदा-कदा अचानक जो पुस्तकें सामने आ जाती हैं, उनमें अपने विचारों का शब्दशः अपहरण देख कर खेद होता है। कहाँ-कहाँ तक किसका-किसका नाम गिनाऊँ!

युनिवर्सिटी के एक डी० लिट्० डी० फिल० प्राध्यापक ने हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास लिखा है। उन्होंने आधुनिक लेखकों में मेरी गणना करने की जरूरत नहीं समझी, किन्तु महादेवी जी की कविताओं पर मेरी पुस्तक 'युग और साहित्य' से एक पूरा पैरा ज्यों-का-त्यों ले लिया है। याद दिलाने पर बोले—उद्धरण-चिह्न दिया था, जो छापे में छूट गया। मैंने कहा—सीधे लेखक या उसकी पुस्तक का नाम क्यों नहीं दे दिया? बोले—यह तरीका आउट-ऑफ़-डेट हो गया है! —(सचमुच, शोषण और अपहरण ही अप-टू-डेट हो गया है!)

शोध की दृष्टि से प्राचीन साहित्य पर तो इतनी सामग्री उपलब्ध है कि उसके सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ उलटा-सीधा लिखा ही जा सकता है। किन्तु आधुनिक साहित्य की समीक्षा केवल अध्ययन द्वारा नहीं की जा सकती। उसके लिए अनुभूति अनिवार्य्य है। जो लोग मेरा साहित्यिक अपहरण करते हैं और आभार स्वीकार नहीं करते, वे अपने अज्ञान को छिपाते हैं।

दूसरे महायुद्ध के बाद जो आर्थिक अकाल फैला उसने बड़े-बड़ों की शराफत का पर्दाफाश कर दिया। अब साहित्य-क्षेत्र में भी नंगा नाच हो रहा है। कल तक रीडरों का बाजार गरम था, अब साहित्य के इतिहास का सौदा हो रहा है। इस राष्ट्रभाषा के युग में पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन, जहाँ-जहाँ हिन्दी-साहित्य का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है, वहाँ-वहाँ पाठ्यपुस्तकों के रूप में भ्रष्टाचार चल रहा है। प्रकाशकों की पूँजीवादी लिप्सा के साथ

अध्यापकों और लेखकों के आर्थिक स्वार्थो का गठबन्धन-सा हो गया है।

केवल पाठ्यपुस्तकें लिखना ही तो समालोचना और साहित्य-सेवा नहीं है। किसी जमाने की अंग्रेजी शिक्षा की तरह अब हिन्दी-साहित्य की शिक्षा भी व्यर्थ होती जा रही है। केवल नौकरी अथवा आर्थिक सुविधा ही शिक्षा का लक्ष्य हो गया है। साहित्यकार भी यदि लक्ष्मीवाहन हो जायगा तो सरस्वती कहाँ बिराजेगी !

कालेजों और युनिवर्सिटियों में प्रतिभाएँ न कभी पनपी हैं और न पनप सकती हैं। प्रतिभाशाली छात्र अपने रूढ़ अध्यापकों की अपेक्षा अधिक उर्व्वर-मस्तिष्क होते हैं, क्योंकि उनमें तारुण्य की अनुभूति और चिन्तनशीलता होती है। परीक्षा के लिए पाठ्यपुस्तकों को पढ़ते हुए भी उनका स्वाध्याय वहीं तक सीमित नहीं रह जाता। ऐसे ही छात्रों पर साहित्य का भविष्य निर्भर है।

शुक्लोत्तर समीक्षक

इस समय युनिवर्सिटियों में हिन्दी के ये प्रतिनिधि आलोचक अध्यापन-कार्य्य कर रहे हैं---सर्वश्री डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्म्मा, रामकुमार वर्म्मा, नन्ददुलारे बाजपेयी, विनयमोहन शर्म्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सत्येन्द्र, नगेन्द्र, नलिनविलोचन शर्म्मा। इन आलोचकों में क्या मैं अपना नाम भी सम्मिलित कर लूँ ?

शुक्ल जी के बाद समालोचकों की यह पीढ़ी यद्यपि आचार्य्य-परम्परा (शास्त्रीय समीक्षा) से प्रभावित है तथापि छायावाद के प्रति भी सहृदय है। वैधानिक समीक्षा और प्राभाविक सहानुभूति

का संयोजन इस पीढ़ी द्वारा हुआ है। 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' में मैंने यही आरम्भिक प्रयास किया था। उसके बाद 'कवि और काव्य' तथा 'सञ्चारिणी' में मैंने मुख्यतः भावात्मक समीक्षा ही दी। यूनिवर्सिटियों में शास्त्रीय समीक्षा का प्राचर्य्य होता जा रहा था, आलोचना के ललित पक्ष का प्रायः अभाव था। साहित्य के अनुरागियों का अन्तःकरण स्पन्दित करने के लिए भावात्मक समीक्षा की आवश्यकता थी। शुरू में काव्य की नयी शैली की तरह इस नयी समीक्षा की भी उपेक्षा की गयी, बाद में उसे प्राभाविक समालोचना के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

छायावाद का काव्य-संस्कार लेकर जो आलोचक शास्त्रीय समीक्षा के क्षेत्र में आये उनमें अनुभूति और रसात्मकता थी। रामकुमार और नगेन्द्र स्वयं भी कवि थे, अतएव उनकी लेखनी में तरलता और मर्म्मस्पर्शिता थी। रामकुमार आज भी कवि हैं, स्वभावतः उनमें सहृदयता और गुणग्राहकता अधिक है।

पण्डित नन्ददुलारे बाजपेयी और पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी कवि न होते हुए भी छायावाद के कवियों के भाव-साहचर्य्य में रहे हैं। अतएव इन तात्त्विक समीक्षकों में भाविकता भी है।

मध्यकालीन साहित्य के प्रति सांस्कृतिक और कलात्मक रुचि रखते हुए भी मेरी समालोचना का क्षेत्र आधुनिक साहित्य रहा है। उसमें मैं पुरातन की ही प्राणप्रतिष्ठा करता हूँ। बाजपेयी जी, द्विवेदी जी, रामकुमार जी और नगेन्द्र जी की आलोचना का क्षेत्र विस्तृत है। उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन अथवा अब तक के सभी युगों के

साहित्य पर विशद विचार किया है। मलतः सांस्कृतिक दृष्टि से हम लोगों में आन्तरिक एकता है।

बाजपेयी जी बाबू श्यामसुन्दरदास जी के साहित्यिक सम्पर्क में अधिक रहे हैं। उस समय वे शुक्ल जी की साहित्यिक मान्यताओं का विरोध करते थे, अब वे आलोचना के क्षेत्र में उन्हें ही आदर्श मानते हैं।

छायावाद से प्रभावित होने के कारण बाजपेयी जी साहित्य में आत्मानुभति को प्रधानता देते हैं। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने कोई ऐसी साहित्यिक स्थापना नहीं की है। फिर भी दोनों आलोचक मुख्यतः सैद्धान्तिक समीक्षक हैं। सिद्धान्तों का यथास्थान अपना भी महत्त्व है, किन्तु उन्हें सब जगह 'पिनल कोड' की तरह लागू नहीं किया जा सकता। इस तरह की समीक्षा में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि सिद्धान्तों से आलोच्य विषय का अपना व्यक्तित्त्व निखर नहीं पाता। आलोचक का ही दृष्टिकोण प्रधान हो जाता है, रचयिता का दृष्टिकोण लुप्त हो जाता है। बाजपेयी जी ने 'साकेत' और पन्त की कविताओं को जिस कसौटी पर कसा है उस कसौटी पर प्रसाद और निराला की रचनाएँ भी टिक नहीं सकतीं। उनकी आलोचना निष्पक्ष नहीं है।

हजारीप्रसाद जी में बाजपेयीजी-जैसा पूर्वाग्रह नहीं है। उनके सिद्धान्त और विचार तात्त्विक दृष्टि से तो ठीक हैं, किन्तु आलोच्य प्रसङ्ग से संगति नहीं बैठ पाती। द्विवेदी जी वस्तुतः प्राचीन साहित्य के शोधकर्त्ता हैं। शोधकार्य्य में अन्य आलोचकों का उनसे मतभेद

हो सकता है, किन्तु इस दिशा में उन्होंने भगीरथ-प्रयास और पथ-प्रदर्शन किया है।

छायावाद की काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में जब मैं अकेला था, उस समय नयी पीढ़ी के समीक्षकों में बाजपेयी जी और हजारीप्रसाद जी ही सहयोगी के रूप में आगे आये। गीत-काव्य की तरह मेरा क्षेत्र परिमित था, इन लोगों का क्षेत्र प्रबन्ध-काव्य की तरह विस्तृत था। मुझमें मुग्धता थी, इनमें विद्वत्ता। बाजपेयी जी ने काव्य के अतिरिक्त प्रसाद जी के उपन्यास-साहित्य पर भी दृष्टिपात किया, हजारीप्रसाद जी ने प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य पर। मैं शरच्चन्द्र की कृतियों की ओर आकर्षित हो गया था।

सत्येन्द्र जी ने 'गुप्त जी की काव्य-कला' पर एक छोटी-सी सार-गर्भित पुस्तक लिखी है। उनकी समालोचना में सरसता, गम्भीरता और संक्षिप्तता है। रीतिकाल की अपेक्षा द्विवेदी-युग के काव्य में जितनी नवीनता है उतनी ही सत्येन्द्र जी के साहित्यिक संस्कारों में। उनमें मध्यमवर्गीय गृहस्थों की-सी आधुनिकता है।

इधर आधुनिक कवियों की कृतियों पर कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, किन्तु गुप्त जी और पन्त जी की कृतियों पर ही सुपुष्ट समालोचना लिखी जा सकी है। डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्म्मा ने प्रसाद जी के नाटकों का गम्भीर अध्ययन किया है। बा० श्यामसुन्दरदास और शुक्लजी के समय की विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा के वे एकान्त प्रतिनिधि हैं।

गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ने 'महाप्राण निराला' में कवि के जीवन और काव्य का संवेदनापूर्वक विवेचन किया है।

विनयमोहन शर्म्मा कवि भी हैं और आलोचक भी। कविता में वे पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी की शैली के अनुगामी हैं। इस शैली की भाषा में वह प्राञ्जल लालित्य नहीं है जो छायावाद की विशेषता है। भाव में कवित्व, शैली में नाटकीयता और भाषा में गद्य का सूखापन है। इसीलिए शर्म्मा जी की आलोचना में भी रसात्मकता नहीं, गद्य की-सी शुष्कता है। रेशम की-सी स्निग्धता न होते हुए भी उनकी खुरदुरी आलोचना में खादी की-सी सरलता, सुस्पष्टता और उपयोगिता है। उनके निबन्ध सुगठित और विचार संक्षिप्त एवं परिमार्जित हैं। उनमें मितव्ययिता है।

बिहार के नलिनविलोचन शर्म्मा एक सजग अध्ययनशील समीक्षक हैं। उनमें विश्लेषण, अन्वेषण और मर्म्मभेदन की अच्छी क्षमता है।

वाजपेयी जी और द्विवेदी जी (पण्डित हजारीप्रसाद जी) साहित्य के सैद्धान्त-पक्ष (विचार और अनुभूति-पक्ष) पर तो पर्य्याप्त दृष्टिपात करते हैं, किन्तु अभिव्यक्ति-पक्ष (कला-पक्ष) पर ध्यान नहीं दे पाते। उल्लिखित अन्य आलोचकों ने कला-पक्ष पर भी यथेष्ट विचार किया है। कला-पक्ष से रहित साहित्य तो केवल नीति और दर्शन ो जायगा।

यों तो निबन्ध एक स्वतन्त्र चीज है; किन्तु भाषा, शैली और स्थायी विचार की दृष्टि से आलोचना में भी निबन्ध के गुण देखे जा सकते हैं। निबन्ध के बिना आलोचना का गठन नहीं हो सकता। द्विवेदी-युग से लेकर अब तक के उक्त सभी समीक्षकों के आलोचना-कल्पलेखों में अच्छे निबन्ध के भी गुण हैं।

वर्त्तमान साहित्य

छायावाद के बाद हिन्दी के काव्य और गद्य-साहित्य में विपुलता आ गयी है। परिमाण बढ़ गया है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, पत्र, डायरी, रिपोर्ताज, भ्रमण-वृत्तान्त, जीवन-चरित्र, पर्सनल एसे, इंटरव्यू, रेडियो रूपक, समालोचना, सभी विषयों में उन्नति हो रही है। पहले हिन्दी-साहित्य का सम्बन्ध उर्दू, बँगला, मराठी और अंग्रेजी से ही था। अब साहित्यिक सहयोग का विस्तार हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय घनिष्ठता के कारण हिन्दी-साहित्य का सम्पर्क विश्व-साहित्य से बढ़ता जा रहा है। इसीलिए भाव, विचार, विषय और अभिव्यक्ति में नित्य नयी नवीनता आ रही है। आगे जब देशों की सीमाएँ एक विश्वराज्य में परिणत हो जायँगी तब सभी भाषाओं का साहित्य समवेत हो जायगा।

इस समय हमारे साहित्य में नयी-नयी प्रतिभाएँ फूट रही हैं, उग रही हैं। पहले, प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों के समय में, इतनी प्रतिभाएँ नहीं थीं। उस समय इन उगती हुई प्रतिभाओं में से कोई भी अपना प्रमुख स्थान बना सकता था। किन्तु अब जीवन में इतनी अनुभूति-प्रवणता आ गयी है कि सभी अपने-अपने स्थान पर विशिष्ट जान पड़ते हैं। हाँ, छायावाद-युग के साहित्यिकों में कला की गरिमा अधिक है, चन्द्रमा की तरह ; अब ये नये-नये साहित्यकार उसी के बाद के नये तारे हैं।

छायावाद के बाद नये साहित्यकारों में कुछ का (जैसे जैनेन्द्र जी का) सम्बन्ध अपनी प्राचीन संस्कृति से बना रहा, अधिकांश का

उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। वे मार्क्स और फ्रायड के प्रभाव से यथार्थवाद की ओर चले गये। सामाजिक दायित्त्व के अभाव में नवीनता के नाम पर अनुकरण अधिक हो रहा है, अन्तःकरण का विकास नहीं हो रहा है।

छायावाद-युग तक जीवन में एक आभिजात्य बना हुआ था, फलतः साहित्य में भी रचनात्मक सौष्ठव था, अव्यवस्था नहीं थी। यहाँ तक कि निराला जी के मुक्तछन्द में भी एक नियमन है, किन्तु नये साहित्यिकों में नवीनता के नाम पर अनुशासनहीनता आ गयी है। मुक्तछन्द का दुरुपयोग हो ही रहा है, साथ ही छायावाद के बाद के कवियों और लेखकों द्वारा भाषा और वर्त्तनी की भी दुर्दशा हो रही है।

नये साहित्यिकों ने केवल टेकनिक की ही विशेष उन्नति की है। किन्तु किसी भी युग में यदि शब्दकोषों की आवश्यकता है तो सभी युगों में व्याकरण की भी आवश्यकता बनी रहेगी। नवीनता का अर्थ निरङ्कुशता नहीं। निरङ्कुश साहित्यकारों की अज्ञानता नवीनता नहीं बन सकती। कुशल कलाकार ही नियमों को नवीनता दे सकता है, जैसे 'पल्लव' में पन्त ने दिया।

यह देख कर खेद होता है कि बड़े-बड़े साहित्य-महारथी भी अशुद्ध रचनाओं पर अतिशयोक्तिपूर्ण सम्मतियाँ दे देते हैं। ऐसी सम्मतियाँ तो समालोचना का स्थान नहीं ले सकतीं। प्रायः पत्र-पत्रिकाएँ भी पुस्तकों की समीक्षा में गैरजिम्मेदारी का परिचय देती हैं। आनेवाली पीढ़ी ऐसी प्रवृत्ति से गुमराह हो सकती है। इस

समय आचार्य्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचकों की आवश्यकता है।

क्रिया-प्रतिक्रिया

अब प्रगतिशील युग चल रहा है। छायावाद के बाद जब इस युग का आरम्भ हुआ तब रीतिकाल और छायावाद-युग के परम्परा-प्रेमी आलोचकों की इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। कुछ आलोचकों ने इस नये युग की वास्तविकता का साथ दिया। 'युग और साहित्य' में मैं समाजवादी हो गया। तब तक प्रगतिशीलता कम्युनिस्टिक नहीं हो गयी थी। जीवन की विषम अनुभूतियों ने मुझे भावक से तात्त्विक समीक्षक बना दिया। स्वभावतः अब भी मुझमें भाविकता थी; क्योंकि सौन्दर्य्य, संस्कृति और कला मेरा जन्मजात संस्कार है। इन्हीं की स्थापना के लिए मैंने समाजवाद का शरीर धारण कर लिया था। किन्तु बाद में मुझे अनुभव हुआ कि यन्त्र-युग के किसी भी राजनीतिक ढाँचे में अन्तरात्मा की स्थापना नहीं हो सकती। आज जैसे जयप्रकाशनारायण जी में सर्वोदय की दिशा में आन्तरिक प्रतिक्रिया हो गयी है, वैसे ही सन्' ४३ में मुझमें भी मानसिक प्रतिक्रिया हो गयी; इसी का सुपरिणाम थी 'सामयिकी'।

अपनी प्रतिक्रिया से मैं फिर परम्परा-प्रेमी आलोचकों के समाज में पहुँच गया। किन्तु रीतिकाल और छायावाद-युग के साहित्य-प्रेमियों तथा मेरी प्रतिक्रिया में यह अन्तर पड़ गया कि वे लोग प्रगतिवाद से केवल असन्तोष प्रकट करते थे, मैंने जीवन और

साहित्य का रचनात्मक दृष्टिकोण भी दिया। 'धरातल' में मेरे दृष्टि-कोण का केन्द्रीकरण है। उसमें मैंने पृथ्वी को 'सर्वोदय' का प्राङ्गण कहा है।

प्रगतिवादी सभी समस्याओं को आर्थिक दृष्टि से देखते हैं। सचमुच, सभी विकृतियों और सुकृतियों का मूल आधार आर्थिक है। मैं जिस संस्कृति का उपासक हूँ उसका आर्थिक आधार गान्धी-जी के रचनात्मक कार्य्यो में मिला। 'सामयिकी' से लेकर अब तक की मेरी सभी पुस्तकों में गान्धीवाद की स्थापना है। गान्धीवाद छायावाद को उसी तरह सहयोग दे सकता है जैसे स्वयं गान्धी जी रवीन्द्रनाथ को सहयोग देते थे। अतएव, छायावाद के काव्यप्रेमियों की अपेक्षा मेरे रचनात्मक दृष्टिकोण से मतभेद या तो रीतिकालीन रुचि के सम्प्रदायवादियों का हो सकता है या प्रगतिवादियों का।

जहाँ पूर्वाग्रह अथवा मताग्रह होता है वहाँ कट्टर धार्म्मिकों अथवा साम्प्रदायिकतावादियों की तरह अपने ही सिद्धान्तों और विचारों की माँग लेखकों और कवियों से की जाती है। यह प्रतिभा-शाली साहित्यिकों को भी अपनी ही तरह जड़ बना देने का असम्भव प्रयास है। यही जड़ता, यही हठवादिता निरी शास्त्रीय आलोचना में भी है और प्रगतिवादी आलोचना में भी।

प्रगतिवाद से सहमत न होते हुए भी जैसे मैंने साहित्य की विचारधारा में गान्धीवाद के रूप में आर्थिक दृष्टिकोण को भी ग्रहण कर लिया है, वैसे ही कोरी शास्त्रीय समीक्षा से सीमित न होते हुए भी आलोचना में उसका भी समावेश कर दिया है।

अतएव, 'सामयिकी' से लेकर 'प्रतिष्ठान' तक के मेरे प्रयास को केवल प्रभाववादी समालोचना नहीं कहा जा सकता। 'युग और साहित्य' के समय से ही मेरी आलोचना का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत होता गया है।

जिस समय में साहित्य में गान्धीवादी रचनात्मक दृष्टिकोण उपस्थित कर रहा था उस समय आचार्य्य-युग और छायावाद-युग के प्रतिनिधि आलोचकों की क्या गतिविधि थी? पण्डित नन्ददुलारे बाजपेयी प्रगतिवादी हो गये थे। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी समाजवादियों का साथ दे रहे थे। नगेन्द्र जी फ्रायडियन दृष्टि से साहित्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर रहे थे। किन्तु इसके पहिले? 'सामयिकी' में मैंने लिखा है कि "शुक्ल जी के साहित्यिक प्रयत्नों को जिस स्वस्थ यौवनोन्मेष की आवश्यकता थी उसका स्फुरण नगेन्द्र के काव्यालोचन में हुआ। नगेन्द्र में शुक्ल जी की शास्त्रीय निष्ठा और छायावाद की कला-प्रतिष्ठा का शुक्ति-स्वाति संयोग है।"

प्रगतिशील समीक्षक

सम्प्रति प्रगतिशील युग के प्रतिनिधि आलोचक ये हैं—सर्वश्री शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्म्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, प्रभाकर माचवे।

हिन्दी में प्रगतिवाद की चर्चा आरम्भ करने का श्रेय शिवदानसिंह चौहान को है, उस समय वे इलाहाबाद युनिवर्सिटी में बी० ए० के छात्र थे। चौहान साहित्य की आलोचना मुख्यतः आर्थिक दृष्टिकोण से करते हैं, रामविलास जी सामाजिक दृष्टि से, प्रकाशचन्द्र जी साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से। अपना-अपना

विशेष दृष्टिकोण रखते हुए भी इन आलोचकों ने प्रगतिवाद के अन्य दृष्टिकोणों का भी समावेश कर लिया है।

ये आलोचक कोरे राजनीतिक वक्ता नहीं, इनमें साहित्यिक विदग्धता भी है। हिन्दी-साहित्य की परम्परा में इनका आरम्भिक निर्म्माण हुआ है। चौहान जी प्रेमचन्द के कथा-साहित्य से, रामविलास जी और प्रकाशचन्द्र जी छायावाद के काव्य से प्रभावित रहे हैं। प्रगतिवाद के क्षेत्र में आ जाने पर रामविलास जी से भावना का जगत छूट गया, चौहान जी और प्रकाशचन्द्र जी का सम्बन्ध उससे बना रहा।

चौहान जी की आलोचना एकैडैमिक ढंग की है। सिद्धान्त के अतिरिक्त वे साहित्य के रचना-विधान पर भी दृष्टिपात करते हैं। उनकी भाषा का स्तर साहित्यिक है, उसमें संस्कृत की गुरु-गहनता है।

रामविलास जी भी साहित्य के शिल्पतन्त्र के कोविद हैं। अपने छात्र-जीवन में उन्होंने पन्त, निराला और महादेवी की काव्यकला का सूक्ष्म निरूपण किया था। परवर्त्ती काल में पन्त जी की 'स्वर्णकिरण' पर उन्होंने शब्द, भाव और चित्र की दृष्टि से जो आलोचनात्मक लेख लिखा था उससे ज्ञात होता है कि उनका कलाबोध समाप्त नहीं हो गया है। पहले वे सहृदय समीक्षक थे, अब निर्म्मम आलोचक हैं। असन्तुष्ट माली की तरह सब कुछ काट-छाँट देते हैं।

रामविलास जी का प्रगतिवादी दृष्टिकोण निम्नवर्ग का है। सर्वसाधारण की आँखों से ही वे साहित्य, समाज और जीवन को देखते हैं। उनकी भाषा और विचार में वैसी ही सरलता,

सुस्पष्टता और सचाई है। सीधे-सादे छोटे-छोटे वाक्य बातचीत की स्वाभाविकता की याद दिलाते हैं। एक भी फालतू शब्द नहीं, भावुकता का नाम नहीं, फिर भी कहानी की-सी रोचकता है। रामविलास जी की भाषा और शैली की अपनी विशेषता है।

छायावाद-युग में जैसे प्रभाववादी समालोचना का प्रादुर्भाव हुआ था वैसे ही प्रगतिशील युग में भी उसका उद्भव हुआ, प्रकाशचन्द्र गुप्त द्वारा। किसी भी युग में प्राभाविक समालोचना की आवश्यकता बनी रहेगी, क्योंकि उससे केवल अध्ययन ही नहीं होता, बल्कि जीवन की अनुभूति से तादात्म्य भी स्थापित होता है।

प्रकाशचन्द्र जी के लेखों में प्रगतिवाद होते हुए भी उसकी प्रखरता नहीं है। उनमें वह कलाप्राणता है जो आलोचना को ग्रीष्म की चाँदनी की तरह स्निग्ध बना देती है। डाक्टर रामविलासजी की-सी तीक्ष्ण सर्जरी नहीं है, नर्स की-सी कोमलता-ममता है; साथ ही चौहान जी की एकैडैमिक शुष्कता नहीं, रोमैन्टिक काव्य की सरसता है। दृष्टिकोण वैज्ञानिक और समीक्षात्मक होते हुए भी प्रकाशचन्द्र जी के लेखों की भाषा और शैली में साहित्यिक सौन्दर्य है।....

नये आलोचकों में प्रभाकर माचवे की भी अपनी विशेषता है। उनका अध्ययन विस्तृत है। अपनी बहुज्ञता से वे सभी विषयों पर लेख लिखते रहते हैं और विभिन्न विचारों का सर्वेक्षण करते हैं।

आधुनिकता की दृष्टि से हिन्दी का समीक्षा-साहित्य अंग्रेजी तक पहुँचा था। प्रगतिवादी आलोचकों ने ठीक अर्थ में उसे विश्व-

साहित्य तक पहुँचा दिया। इसके पूर्व जोशी-बन्धुओं ने भी यही सत्प्रयास किया था। इन समकालीन आलोचकों में बहुत वैचारिक मतभेद है, किन्तु 'वादे वादे तत्त्वबोधः' के अनुसार साहित्य में मतभेद से भी कल्याण ही होगा। हां, उसे व्यक्तिगत कटुता का रूप नहीं धारण करने देना चाहिये।

काशी,
६।७।५४

'दिगम्बर'

शैशव का सरल, सुकोमल और भावुक अन्तःकरण लेकर मैं संसार में आया था। कला और संस्कृति के कारण, वयस्क हो जाने पर भी मेरे अन्तःकरण का रूपान्तर नहीं हुआ। वह वैसा ही अविकल एवं अनाविल था।

कालान्तर में शैशव की तरह ही सुकुमार शरीर संसार की कठोर वास्तविकता से आक्रान्त हो गया। मेरे बहिरन्तर (तन-मन) में द्वन्द्व होने लगा। मन में आया कि अनात्मवादियों की तरह शरीर की विकृतियों को किसी उपन्यास में उभार कर उपस्थित कर दूँ। नाम सूझा 'दिगम्बर'। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि देह की यथार्थता का भुक्तभोगी होकर भी मेरा आन्तरिक स्वभाव स्खलित नहीं हो गया था, अन्यथा 'दिगम्बर' की अपेक्षा आजकल की पुस्तकों-जैसा मैं इसका कोई तड़कीला-भड़कीला नाम रख सकता था।

'दिगम्बर' शब्द में सांस्कृतिक व्यञ्जना है। जैन साधुओं के एक सम्प्रदाय को दिगम्बर कहते हैं, जो वस्त्र नहीं पहनते। यदि देह से नंगा होना ही दिगम्बर होना है तो अपने यहाँ के 'नागा' लोग भी दिगम्बर कहे जा सकते हैं। किन्तु देह के अनाच्छादन से ही कोई दिगम्बर नहीं हो जाता। पशु भी तो नंगा रहता है। दिगम्बर का अभिप्राय है ऐसा आडम्बर-शून्य सरल-निश्छल-निर्मल-चेतन अन्तःकरण जिसका परिवेश सीमित नहीं, दिगञ्चल तक फैला

हुआ है। आज की भाषा में जिसे श्रमिक सर्वहारा कहते हैं, वह स्वार्थ का संघर्ष करता है; किन्तु दिगम्बर तो ऐसा श्रमण सर्वहारा है जो वसुधैव कुटुम्बकम् के लिए स्वेच्छा से निःस्व हो जाता है।

मुझे आदर्श के लिए कल्पना नहीं करनी पड़ी, तटस्थ होकर जब मैंने अपने ही जीवन की ओर झाँका तो वह चेतन अन्तःकरण मुझमें भी मिल गया। मैं उसकी साधना का सम्मान करने लगा, उसकी निरीहता को प्यार करने लगा। 'पथचिह्न' और 'परिव्राजक की प्रजा' में जिस श्रमणकुमार, जिस तत्त्वज्ञ बालयति को मैंने स्मरण किया है वही तो 'दिगम्बर' में विमल है।

'दिगम्बर' में मैं एक ऐसे ग्रामीण अथवा वनवासी शिशु का जीवन लेकर चला हूँ जो अगजग से दूर प्रकृति के आँगन में ही अंकुरित और प्रस्फुटित हुआ है। नगर में आकर भी कृत्रिम नहीं हो सका, वह सर्वथा निसर्ग-सुन्दर आत्मा है।

'दिगम्बर' में आद्योपान्त एक नैसर्गिक चित्रण है। बचपन से लेकर प्रकृति क्रमशः किस प्रकार मुकुलित-प्रस्फुटित-विकसित होती चली जाती है, यह विमल के चरित्र के माध्यम से व्यक्त हुआ है। जो प्रकृति भूख-प्यास और वासना जगाती है वही प्रकृति शरीर के भरण-पोषण में सहायता भी करती है। प्रकृति का भोग-पक्ष ही मनुष्य को उसके अनुरूप स्वाभाविक उद्योग अथवा कर्म्मयोग की ओर प्रेरित कर देता है। जिस प्रकृति को हम अपने आहार-विहार में पहिचानते हैं उसी का सामाजिक विकास सर्वोदय अथवा ग्रामोद्योगों में होता है। यहाँ फ्रायड का काम-विज्ञान और अन्यान्य

आधुनिक यन्त्र-विज्ञान बहुत पीछे छूट जाता है, क्योंकि उनमें शरीर की ही प्रधानता है, चेतना का संस्पर्श नहीं।

'दिगम्बर' जिस प्रकृति को लेकर चला है वह निर्जीव देह नहीं, सदेह चेतना है, इसीलिए उसमें स्नेह, श्रद्धा, संस्कृति का अन्त-विकास भी है। ठोस पार्थिव आधार पर ही आदर्श का अधिष्ठान है। 'दिगम्बर' में कहा है—"पेट की भूख-प्यास में भी विमल जैसे अतीन्द्रिय भावुक था, वैसे ही वासना की भूख-प्यास में भी। भूख-प्यास शरीर का स्वभाव है, भावुकता अथवा सहृदयता चेतना का स्वभाव। क्या है चेतना?—वही जिससे शरीर शिवधाम बना हुआ है।"

साधारण रुचि के मनोविनोदी पाठकों को 'दिगम्बर' में एकाध स्थल अश्लील जान पड़ा है। किन्तु 'दिगम्बर' में अश्लीलता का लेश मात्र भी नहीं है। किसी रचना का रसास्वादन करने के लिए पाठकों में रस-बोध होना चाहिये और पात्र, प्रसङ्ग तथा उद्देश्य का ध्यान रखना चाहिये। प्रसङ्ग तरुण-तरुणियों के उच्छृङ्खल विलास का नहीं, बाल्यक्रीड़ा का है। उसी सन्दर्भ में यह मन्तव्य द्रष्टव्य है—

"तसवीरों और खिलौनों के प्रति बच्चों में जैसा आकर्षण होता है वैसा ही उनका निष्पाप आकर्षण सभी अच्छी-बुरी चीजों की ओर हो जाता है। समाज की परछाईं उनमें पड़ती थी, किन्तु वे तो नङ्ग-धड़ङ्ग मिट्टी के मटमैले ढेले थे—रस, रूप, गन्ध से अनजाने मिल कर भी अनगढ़ थे।"—ऐसे अबोध पात्रों में 'समाज की परछाईं' न देख कर अश्लीलता देखना कुरुचि का परिचय देना है। यदि रस-बोध होता तो समझ में आ जाता कि अश्लीलता और बीभत्सता

दो भिन्न चीजें हैं। बच्चों की ऐन्द्रयिक चेष्टा में 'समाज की पर-छा'' ही वीभत्स हो गयी है। वहाँ अश्लीलता तो दूर, शृङ्गारिकता भी नहीं है। ऐसी वीभत्सता है कि वासना मर जाती है।

यद्यपि शरीर के माध्यम से ही पारस्परिक सम्बन्ध बनते हैं, तथापि रस की परिणति जीवों के शरीर में ही नहीं, उनकी चेतना में भी होती है। चेतना के कारण ही रसानुभूति में विभिन्नता और विविधता आ जाती है, काव्य के नौ रस इसी के दृष्टान्त हैं।

शरीरधारी होने के कारण शिशुओं में भी शरीर की क्रियाओं के प्रति कुतूहल, जिज्ञासा और आकर्षण होना स्वाभाविक है। सच तो यह कि शिशु के आकार धारण करने के पहिले ही बीज-रूप में शरीर की सभी प्रवृत्तियों का गर्भाधान हो जाता है, शिशु के बाहर आने पर अङ्गों के विकास के अनुसार उसकी प्रवृत्तियाँ क्रमशः सक्रिय रूप में स्पष्ट होने लगती हैं। बालक विमल भी इस प्राकृतिक नियम का अपवाद नहीं है। उसमें भी कुतूहल और जिज्ञासा है, किन्तु वह जड़ नहीं, चेतन है; इसीलिए अपने अनुभवों में जागरूक है।

कुतूहल और जिज्ञासा के अतिरिक्त विमल में आजीवन अतृप्ति है। यह अतृप्ति ही उसे वातावरण से ऊपर उ ाये रही।

बचपन में वह क्षुधातुर तो था ही, तारुण्य में भी उसे आहार-विहार नहीं मिला। उसका तन-मन अतृप्त रह गया। फिर भी उसमें श्रमिकों और शोषितों की-सी वर्गचेतना नहीं आयी। क्या वह जीवन से विरक्त था? नहीं, वह तो सगुण प्राणी है, जीवन के

ति अनुरक्त है, तभी तो 'भूख-प्यास से छीजी हुई होने पर भी विमल की 'झीनी-झीनी चदरिया' लहरियादार थी। उसकी दुबली-पतली देह में क स्वाभाविक कला-भङ्गिमा थी।'

....जीवन के आरम्भ में विमल की अतृप्ति का कारण आर्थिक वैषम्य हो सकता है। किन्तु उस समय उसमें इतना अर्थ-बोध नहीं था, परिणत वय में उसने अनुभव किया कि आर्थिक वैषम्य तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक अर्थशास्त्र टकसाली बना हुआ है। साँचों में ढल हुए सिक्कों ने शोषक और शोषित सभी को एक-सा ही निश्चेतन बना दिया है।

विमल देखता है—शोषक और शोषित, शिक्षित और अशिक्षित, सभी उसके प्रति बर्बर हैं, निष्ठुर हैं। क्या वह भी उन्हीं की तरह अपना स्वभाव बना ले ? क्या शोषण और हिंसा ही सृष्टि का सनातन नियम है ?....

रह-रह कर विमल को वैष्णवी की याद आ जाती है। वही तो उसके शून्य जीवन की इकाई थी। इस मर्त्यलोक में अमृत की चेतना जगा कर वह कहाँ चली गयी! उसकी जैसी आत्माएँ अब भी इस दुनिया में कहीं शेष होंगी। अपना स्वभाव बदल देने से उन दिव्यात्माओं का भी हनन-पीड़न-शोषण करना पड़ेगा। बिमल नहीं जीना चाहता ऐसा रक्तपिपासु जीवन।

उसकी अतृप्ति का कारण सम्प्रति यही सांस्कृतिक चेतना अथवा सात्त्विक मनोवृत्ति है। इसी के अनुरूप 'दिगम्बर' में एक रचनात्मक निर्देशन और उद्बोधन है।

कथानक की दृष्टि से 'दिगम्बर' में कोई विशेषता नहीं है। वैचित्र्य-शून्य जीवन की तरह वह बहुत सामान्य है। कुछ छोटी-मोटी घटनाओं को स्नायुओं की तरह संयोजित कर कथा का क्षीण आभास मात्र दे दिया गया है, अतएव यह उपन्यास नहीं, 'औपन्यासिक रेखाङ्कन' है। इसमें कहानी और निबन्ध का सहयोग है, चित्र के साथ चिन्तन का समावेश है। कथानक की प्रतिध्वनि की तरह चिन्तन स्वतः निःसृत हो गया है, अतएव वह दुरूह नहीं, कहानी की तरह ही सहज स्वाभाविक है। अब तक हमारे साहित्य में संस्मरण, पर्सनल एसे, व्यक्तित्त्व-निरूपण, रिपोर्ताज के द्वारा रेखाचित्र प्रस्तुत किये गये हैं, 'दिगम्बर' में इन सभी प्रणालियों को एकत्र कर सरल संक्षिप्त औपन्यासिक विन्यास दे दिया गया है। साहित्य के इस प्रयोग-काल में कदाचित् यह नवीनतम प्रयास है।

'दिगम्बर' की विशेषता चरित्र-चित्रण (व्यक्तित्त्व-निरूपण), शब्द-शिल्प और कथानक के क्रम-नियोजन में देखी जा सकती है।

व्यक्तित्त्व-निरूपण की दृष्टि से सहृदय पाठकों को वैष्णवी का चरित्र-चित्रण मर्म्मस्पर्शी जान पड़ा है। किन्हीं सुविज्ञों का कहना है कि वह आधुनिक विश्वसाहित्य में बेजोड़ है। इस प्रशंसा में अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु किसी भी अंश में यदि वैष्णवी का व्यक्तित्त्व पाठकों को संवेदनशील बना सका तो मेरा प्रयास सफल है।

चित्रण और चिन्तन द्वारा ही नहीं, कहीं-कहीं एक शब्द से भी वातावरण और जीवन को अभिव्यञ्जित किया है। जैसे—'कवि विमल

उसका पड़ोसी था', 'नवोढ़ा मालती यह निश्चय नहीं कर सकी।' कवि शब्द विमल की रसात्मक प्रवृत्ति के प्रति पाठकों को सदय बनाने के लिए आया है, ताकि उसके कुतूहल को वे मनोवैज्ञानिक कन्सेशन दे सकें। नवोढ़ा शब्द में मालती के तन-मन का सांकेतिक चित्र है जो बिना विस्तृत शृङ्गारिक वर्णन के ही अपने अभिप्राय को पूर्णतः व्यक्त कर देता है।

कथानक के नियोजन में स्मृतियों की तरह ही क्रमहीन क्रमबद्धता है, जैसे नृत्य में गति-क्षिप्त गतिशीलता। इसीलिए पहिले परिच्छेद के प्रसङ्ग को चौबीसवें परिच्छेद में अग्रसर किया गया है। कथा की एकरसता को भङ्ग करने के लिए यह कलाकारिता है। प्रत्येक परिच्छेद अपने में स्वतन्त्र भी है और कालक्रम से समय के किसी दुरन्त छोर पर अन्य परिच्छेदों से सम्बद्ध भी है। सब मिला कर उनमें नाटकीय अन्विति है।

परिच्छेदों का क्रम-विक्षेप पाठकों की सहानुभूति जगाने के लिए भी किया गया है। प्रथम परिच्छेद में विमल का भावुक तारुण्य है, दूसरे परिच्छेद में उसके अतीत का चपल शैशव। उसके कवि-हृदय को भी पाठक उसी तरह प्यार कर सकें जैसे उसके शैशव को, इसीलिए उनकी सहृदयता को यह स्मृति-चित्र दिया गया है—"वही बालक तो कवि विमल है। ऐसे वनचारी को कवि कौन कहेगा! कवि नहीं, वह तो कपि है!! जान पड़ता है कि राम की वानर सेना का कोई फिसड्डी सतयुग से कलियुग में सरक आया।"

कथाशिल्प के अतिरिक्त भाषा, भाव, विचार और शैली की दृष्टि से भी 'दिगम्बर' पर विचार किया जा सकता है। किन्तु लेखक अब स्वयं अधिक क्या कहे !

काशी,

८।१०।५५

सौन्दर्य-बोध

मैं सौन्दर्य्योपासक हूँ। यह तो कोई नयी बात नहीं हुई, जिनके लिए सौन्दर्य्य वासना का आहार है वे भी तो यही बात कह सकते हैं। पशु जब हरित तृणों से अपनी भूख शान्त करता है और जलाशयों से अपनी प्यास मिटाता है तब वह हरियाली और झरनों का सौन्दर्य्य नहीं देखता।

'कामायनी' में प्रसाद जी ने कहा है—

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

चेतना के अनेक स्तर हैं। वासना उसका स्थूल अथवा निम्नतम स्तर है। फ्रायड ने इसी स्तर पर जीवन को वासनामूलक देखा है। चेतना के उच्च स्तर पर सौन्दर्य्य कलात्मक एवं सांस्कृतिक हो जाता है, उसमें हार्दिक सुषमा और गरिमा आ जाती है।

चेतना तो अमूर्त्त और अदृश्य सत्ता है। तो फिर ऐसी चेतना के वरदान सौन्दर्य्य का मूर्त्त रूप क्या है?—मनुष्य के भीतर जो मधुर मनोरम भावनाएँ अस्पष्ट रूप में बिखरी रहती हैं उन्हीं का सुनियोजित सुस्पष्ट सङ्गठन अथवा भावनाओं का प्रत्यक्ष दृश्यीकरण सौन्दर्य्य है। यह मनुष्य का अपना व्यक्तित्व भी हो सकता है,

अथवा उसकी अपूर्णता का पूरक कोई अन्य प्रिय व्यक्तित्व। जो सौन्दर्य भीतर चित्तवृत्यात्मक है, वही बाहर अपने अनुरूप दृष्टान्त पा जाना चाहता है। जब तक वह मिल नहीं जाता, मन मनभावन को खोजता रहता है। यह खोज ऐसी ही है जैसी भाव के लिए भाव्य की खोज। कवि पन्त के शब्दों में—

देखते देखते आ जाता,
मन पा जाता,
कुछ जग के जगमग रूप नाम।
रहते रहते कुछ छा जाता,
उर को भाता
जीवन-सौन्दर्य अमर ललाम।
—('स्वर्णकिरण')

विश्वशिल्पी विधाता ने भी इसी तरह अपनी भावना से खोज कर परख कर सृष्टि के सौन्दर्य का सृजन किया होगा।

'जग के जगमग रूप नाम' को जब हम काव्य, चित्र, मूर्ति में अङ्कित करते हैं तब सौन्दर्य कलात्मक हो जाता है। अपने कलात्मक रूप में सौन्दर्य केवल मानुषिक ही नहीं, नैसर्गिक भी हो जाता है। खग, मृग, पुष्प, इत्यादि से अङ्गों की प्राकृतिक उपमाएँ सौन्दर्य की विशदता और व्यापकता सूचित करती हैं।

रूप-रंग-रेखाओं में इस कलात्मक सौन्दर्य के कुछ अपने विधान हैं। उसमें एक संगति, अन्विति और परिणति होती है, इन्हीं की समष्टि तो सौन्दर्य है। जहाँ इस सामञ्जस्य का अभाव होता है वहीं विक्षिप्तता आ जाती है।

कला की दृष्टि से जंगलियों के अवयवों, वेश-भूषा और अलङ्करण में भी सौन्दर्य देखा जा सकता है। नये छन्दों के सामने जैसे पुराने छन्द अटपटे लगते हैं वैसे ही जंगलियों के अवयव और अलङ्करण भी। किन्तु उनके जीवन मे भी एक गति-यति-रति रहती है, भले ही किसी अपरिचित भाषा की तरह हम उनकी अभिव्यक्ति को समझ न सकें। आधुनिक दृष्टि से दार्शनिक विदूषक चार्ली चैपलिन के ऊटपटांग चित्रों में जिस मनोहरता को देखते है उससे भी कला का क्रियाकलाप (सौन्दर्य-विधान) स्पष्ट हो जाता है।

शारीरिक दृष्टि से सौन्दर्य को बहुत सीमित रूप में देखा जाता है, वह वासना का उद्दीपन मात्र बन कर रह जाता है। इस दृष्टि से सौन्दर्य धारणा में रुचि-वैभिन्य जान पड़ता है। एक को जो सुन्दर लगता है, वह दूसरे को असुन्दर। कामशास्त्र के नायक-नायिका - भेद में नर-नारी का शारीरिक वैचिध्य इसी का प्रमाण है। यह विभेद कलात्मक नहीं, वैज्ञानिक है। शारीरिक अनुपात के अनुसार चाहे जिस कोटि का नायक अथवा नायिका हो, सौन्दर्य तो अपने कलात्मक विधान में किसी भी नर-नारी में मूर्त्त हो सकता है। कला की यही सुन्दरता मानवेतर सृष्टि में भी देखी जाती है, तभी तो उन्हें नायक-नायिकाओं के शारीरिक अनुपात का प्रतीक बना दिया गया है; शशक से लेकर अश्व तक और पद्मिनी से लेकर हस्तिनी तक।

सौन्दर्य के प्रति आकर्षण प्रेम है। किन्तु सौन्दर्य की तरह प्रेम में भी वासना हो सकती है। इस स्थिति में स्त्री-पुरुष में ही

प्रेम सम्भव समझा जाता है। यह रूढ़ शृङ्गारिक संस्कार है। इस सङ्कीर्ण संस्कार का परिष्कार करने के लिए ही प्रसाद जी ने यह प्रश्न किया था—

ओ मेरे प्रेम! बता दे
तू स्त्री या कि पुरुष है?
दोनों ही पूछ रहे हैं
कोमल है कि परुष है?

प्रेम की तरह सौन्दर्य्य में भी स्त्री-पुरुष का भेद नहीं किया जा सकता। जब हम प्राकृतिक दृश्यों को देख कर उनके सौन्दर्य्य पर मुग्ध हो उठते हैं तो उस नैसर्गिक सौन्दर्य्य में स्त्री-पुरुष का भेद कहाँ रह जाता है! क्या एक ही सौन्दर्य्य पर स्त्री-पुरुष दोनों नहीं रीझ जाते। असल में सौन्दर्य्य एक भावानुभूति है, प्रेम उसकी रसानुभूति।

जो चेतना स्त्री-पुरुष और प्रकृति में शोभा-सुषमा देखती है, वही जब उनके जीवन में आत्मोत्कर्ष देखना चाहती है तब सौन्दर्य्य का दृष्टिकोण कलात्मक ही नहीं, सांस्कृतिक भी हो जाता है। सच तो यह कि कला की ही सङ्गति, अन्विति, परिणति संस्कृति में आन्तरिक प्रक्रिया बन जाती है। आचार-विचार-व्यवहार ये हमारे सांस्कृतिक विधान हैं, इन्हीं से सौन्दर्य्य को शिवत्व और भाव को कर्त्तृत्व मिलता है।

'आँसू' में प्रसाद जी ने सौन्दर्य्य की विडम्बना देख कर यह उपालम्भ दिया था—

तुम रूप रूप थे केवल
या हृदय भी रहा तुमको ?
जड़ता की सब माया थी
चैतन्य समझ कर हमको।

संस्कृति से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य्य केवल द्रष्टा की चेतना का वरदान है अथवा सौन्दर्य्य स्वयं भी सचेतन है, जड़ नहीं।

प्रकृति में भी जहाँ सौन्दर्य्य सचेतन है वहाँ वह सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का साधन अथवा माध्यम बन गया है। हमारे यहाँ कमल संस्कृति का सुन्दर प्रतीक है। पत्र, पुष्प, दूर्वादल, कदलीस्तम्भ, बन्दनवार, धूप-दीप, नैवेद्य, गङ्गाजल, ये सब भी अपनी रुचिरता और पवित्रता से सस्कृति को ही अलङ्कृत और अभिषिक्त करते हैं।

देवमूर्तियों में संस्कृति का ही दिव्य व्यक्तित्त्व है, उनमें सुन्दरम् और शिवम् का समावेश है। जिस शैशव को हम प्यार करते हैं उसमें चेतना का यही शुभ और सुन्दर चारुत्व रहता है। बालहंस और परमहंस चेतना के ही वयोविकास हैं। बचपन में तन-मन के साथ शिशु की निरीह चेतना का अनायास संयोग रहता है, इसीलिए वह इतना सुहावना और प्यारा लगता है। वयस्क हो जाने पर संसार के आल-व्याल-जंजाल में भी वही बाल्यसौन्दर्य्य सैवाल-जाल में कमल की तरह प्रस्फटित रह सकता है, मर्त्यलोक की कराल और विषाक्त विभीषिकाओं से आवेष्टित शिव का सुकोमल मुख-मण्डल इसी तथ्य का द्योतक है।

बचपन में जो सौन्दर्य्य अनायास सुलभ रहता है वह परिणत वय में जड़ता के भीतर चेतना की साधना से ही उपलब्ध हो सकता है। देवमूर्त्तियों में इसी साधना का साक्षात्कार है। देश-काल और देह के वातावरण को पार कर उनका अन्तर्मुख बहिर्मुख हो गया है। उनके मुखमण्डल पर चेतना ही ज्योतिर्मण्डल बन कर जग-मगाती रहती है, आरती के आलोक की तरह।

मुझे तो सौन्दर्य्य एक दैवी शिल्प जान पड़ता है। उसे देख कर मैं ऐसा अभिभूत हो जाता हूँ कि अपना आपा बिसर जाता है। विस्मय से मन ही मन बोल उठता हूँ—

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम?
अये अभिनव, अभिराम?

इस मर्त्यलोक में यह किस ईश्वर का प्रतिरूप, किस स्वर्ग का पारिजात आ गया!

सौन्दर्य्य में मैं जिस अलौकिक भाव का आविर्भाव देखता हूँ उससे भीतर ही भीतर तादात्म्य अनुभव करता हूँ किन्तु बातचीत नहीं कर पाता, क्योंकि दुनिया की भाषा साथ नहीं दे पाती। अवाक् दृष्टि से सौन्दर्य्य को पढ़ता रह जाता हूँ।

कौन स्रष्टा है सौन्दर्य्य का? यदि मनुष्य ही सौन्दर्य्य का निर्म्माता है तो वह उसे अजस्र क्यों नहीं रख पाता? सौन्दर्य्य मनोवृत्तियों की आत्मसाधना है, साधना से ही उसे अक्षुण्ण रखा जा सकता है। किसी युग में देवासुर प्रवृत्तियों के अनुरूप ही पशुओं और मनुष्यों का मुख सुरूप-कुरूप बन गया। आज भी जो

सौन्दर्य्य दिव्यता अथवा देवभावना को जगाता है वह किसी सात्त्विक वंश की सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिफल है।

सौन्दर्य्य केवल रक्त-मांस का रूप-रंग नहीं है, वह तो मनुष्य के फ़ेथकट् (मुखाकृतियों की बनावट) का परिचायक है। मनुष्य की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियाँ ही मुखाकृतियों में रेखाओं की तरह ऋजु-कुञ्चित हो जाती हैं। यदि फ़ेथकट् अच्छा नहीं है तो मुख भद्दा मालूम पड़ता है। अच्छी आकृति में रक्त-मांस-शून्य शोषित मुख भी कलात्मक लगता है।

जिस तरह लोगों को हस्तरेखाएँ देखने का शौक होता है उसी तरह मुझे सुन्दर मुखाकृतियों को देखने का शौक है, मैं उन्हीं में दैवी लिपि का अध्ययन करता हूँ।

सौन्दर्य्य मेरा हॉबी है। वह मेरे लिए चेतना का दर्पण है। मुझे यह देख कर बड़ी खिन्नता और निराशा होती है कि सुन्दर से सुन्दर मुखाकृतियों में भी चेतना का चारुत्त्व नहीं मिलता। वे तभी तक आकर्षक लगती हैं जब तक उनसे वार्त्तालाप न किया जाय, बातचीत करते ही उनका स्वभाव और संस्कार बड़ा भोंड़ा लगता है, जड़ता का जघन्य और वीभत्स रूप सामने आ जाता है। युगों के व्यवधान में वे सुन्दर मुखाकृतियाँ अपनी भाषा, भाव और शैली भूल गयी हैं; मानों कला, कविता और संस्कृति ही आत्मविस्मृत हो गयी है। किसी युग में वंश-परम्परा से उन्हें सौन्दर्य्य का ऐश्वर्य्य मिला, किन्तु कुछ अपनी भी साधना से वे उसकी श्रीवृद्धि नहीं कर सकीं। कालान्तर में निःसत्त्व होकर जीव-जगत के लुप्त प्राणियों

की तरह ही क्या सुन्दर मुखाकृतियाँ भी कल्पना की वस्तु नहीं हो जायँगी !

मनुष्य में चेतना की पहिचान अथवा सौन्दर्य्य की सुरभि उसकी सुरुचि है। अंग्रेजी में इसे ही 'एस्थेटिक सेन्स' कहते हैं। यह मनुष्य की व्यक्तिगत कलात्मक चेतना है। इसी को व्यावहारिक जीवन में संस्कारिता कहते हैं। इसी के सार्वजनिक रूप का नाम नागरिकता है।

जिस चेतना का सौन्दर्य्य शरीर में साकार होता है उसी चेतना का चारुत्व जब जीवन में चरितार्थ होता है तब मनुष्य सुसंस्कृत प्राणी जान पड़ने लगता है। सुरुचि अथवा संस्कारिता से असुन्दर मुखाकृतियाँ भी सुदर्शन हो जाती हैं, असंस्कारिता से सुन्दर मुखाकृतियाँ भी विकृत और विरूप हो जाती हैं; चेतनाप्राण सृष्टि का यही नैसर्गिक नियम है।

विभिन्न आकृतियों और विभिन्न कृतियों की तरह रुचियों में भी भिन्नता हो सकती है—(भिन्नता में ही सृष्टि की विविधता अथवा नवीनता है)। किन्तु वह रुचि कैसी जिसमें चेतना का लालित्य न हो। खेद है कि न तो व्यक्ति में, न समाज में, न नगर में, कहीं भी सुरुचि और संस्कारिता का परिचय नहीं मिलता। बाहर ठाँव-कुठाँव कूड़ा-कर्कट, भीतर उसी की तरह गन्दा स्वभाव !—क्या यही मनुष्यता है, यही नागरिकता है, यही सामाजिकता है ! मनुष्य के असंस्कृत जीवन को देख कर ज्ञात होता है कि उसकी मनोवृत्तियों में कैसी अराजकता फैली हुई है। उसके खान-पान, रहन-सहन, बात-बर्त्ताव, उ ने-बैठने, चलने में न कोई तुक है,

ा ताल है, न छन्द है, न लय है। सारी प्रवृत्तियाँ निश्चेतन
ान की विकृतियाँ अथवा जड़ता की असङ्गतियाँ बन गयी हैं।

सुरुचि के नाम पर शौकीन नवयुवकों में केवल फैशन रह गया
है। उनका फैशन भी उच्छिष्ट है, रहन-सहन भी उच्छिष्ट है।
इसमें उनकी अपनी प्रतिभा नहीं है। सिनेमा देख कर मनचलों ने
आवारा' बुशशर्ट अपना लिया, भला इसमें क्या मौलिकता है!

कला के नाम पर विकृत अनुकरण और कर्त्तव्य के नाम पर
नेकम्मा भोंड़ापन, यही आजकल के नागरिकों की विशेषता है।
ऐसे लोग, जिनमें आत्मोन्मेष नहीं है उनमें संस्कारिता भी कैसे आ
सकती है! उनका शिष्टाचार हार्दिक नहीं, दिखौवा है। जो लोग
इतना भी शिष्टाचार नहीं निभाना चाहते वे खुलेआम उजड्डता
पर उतारू हो जाते हैं। छात्रों की अनुशासनहीनता शिक्षा और
संस्कृति का अभाव सूचित करती है।

मनुष्य कहीं भी मनुष्य नहीं रह गया है। उसमें जो थोड़ी-
बहुत मानुषी चेष्टा दिखाई देती है वह सरकस के जानवरों की-सी
है। अपनी आजीविका से विवश होकर ये पशु मनुष्यता का चाहे
जितना अभिनय कर लें, किन्तु जब तक अन्तःकरण से सुज्ञ नहीं हो
जायँगे तब तक अपना पाशविक स्वभाव नहीं बदलेंगे।

मनुष्य को सिनेमा और सरकस का जीव-जन्तु नहीं बनना है।
उसे कला और संस्कृति से अपना चैतन्य व्यक्तित्त्व पा जाना है।...

आत्मचेतना के अभाव में मनुष्य जीते जी जीवन्मृत हो गया है।
बाहरी मुखौटों में ये सुन्दर-असुन्दर सभी मुखाकृतियाँ आत्महत्या की

हुई जान पड़ती हैं। भवसागर में सन्तरण नहीं कर रही हैं, शव की तरह बह रही हैं। कैसी घिनौनी, कैसी भयावनी हैं ये !

आज बच्चों के मुख पर भी शिवत्व नहीं है, शैशव का सारल्य और सौष्ठव नहीं है। अस्वस्थ दम्पति जैसे अपनी आधि-व्याधि गर्भाधान में बीजारोपित करते हैं वैसे ही इस निश्चेतन युग के प्राणियों ने अपनी जड़ता को शिशुओं में भी संक्रमित कर दिया है। तुतलाहट टूटते-न-टूटते बच्चे उन्हीं की तरह तामसिक व्यवहार करने लगते हैं। वे अपने कुत्सित वातावरण के प्रतिबिम्ब हैं।

क्या कारण है मनुष्य में देवत्व के इस ह्रास का ? क्या कारण है अमृतपुत्र के इस अध:पतन का ? इसका कारण आज के कृत्रिम अर्थशास्त्र में मिलेगा। उसने सबको अपनी ही तरह जड़ बना दिया है, सबको अपने में ही सीमित सङ्कुचित कर दिया है। सबका ध्यान केवल अर्थोपार्जन में केन्द्रित हो गया है। मनुष्य पशुओं की तरह पेट पालने में लगा हुआ है। अन्य पुरुषार्थों की ओर से विमुख और निश्चेष्ट हो गया है।

मनुष्य को जीवन के सर्वाङ्गीण विकास की ओर प्रेरित करने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र को सांस्कृतिक बनाया जाय। तभी विविध प्रवृत्तियों में सौन्दर्य विविध पंखुड़ियों में शतदल की तरह अन्त:प्रस्फुटित होकर खिल उठेगा।

काशी,

२७।६।५५